

अध्यात्मसहस्री प्रवचन तृतीय भाग

सहजानंद शास्त्रमाला

अध्यात्मसहस्री प्रवचन

तृतीय भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'अध्यात्मसहस्री प्रवचन तृतीय भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री शांतिलालजी बड़जात्या, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं। सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto:Email-vikasnd@gmail.com)



शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

### आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।

अन्तर यही ऊपरी ज्ञान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।

किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अज्ञान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।

निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।

राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।

दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।

अहिंसा परमोधर्म

## आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।  
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।  
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूँ रम लूँ निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।  
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

8 - 9 - परिच्छेद

## अध्यात्मसहस्री प्रवचन तृतीय भाग

उपादान शक्ति के विवरण का उपक्रम- सप्तम् परिच्छेद में निमित्त उपादान का सम्बन्ध और परस्पर पार्थक्य के विषय में वर्णन था। अब इस परिच्छेद में उपादान की शक्ति, योग्यता और उससे सम्बंधित विषयों का वर्णन होगा। इस विषय का परिचय पाने के लिए सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि उपादान में कार्य होने की शक्ति किस-किस प्रकार से रहती है? कार्य होने के मायने हैं उपादान में जो अवस्था बनती है यह अवस्था याने परिणमन किसी पदार्थ में जो हालत बनती है वह हालत तो कार्य है और जिस पदार्थ में हालत हुई वह पदार्थ उपादान कहलाता है। उपादान शक्ति से मतलब है उस पदार्थ का जिसमें कि परिणमन होता है। तो यहाँ उस पदार्थ में परिणमन करने की शक्ति कैसे है, उसका वर्णन होना है। शक्ति कहो, योग्यता कहो, दोनों का इस प्रकरण में एक अर्थ है। उपादान चूंकि सामान्यविशेषात्मक है, पदार्थ सभी सामान्यविशेषात्मक होते हैं तो पदार्थ की यह योग्यता, यह शक्ति भी सामान्यविशेषात्मक है। तब हमें योग्यता को दो प्रकारों में जानना है कि पदार्थ में सामान्य योग्यता क्या है और विशेष योग्यता क्या है? सामान्य परिणमन शक्ति को सामान्य योग्यता कहते हैं और विशेष विवक्षित जिस परिणमन की हम चर्चा रख रहे हैं उसकी शक्ति का नाम है विशेष योग्यता। अथवा सामान्य योग्यता का नाम कहो सामान्य शक्ति, द्रव्य शक्ति और विशेष योग्यता का नाम कहो समुचित शक्ति, पर्याय शक्ति। तो दो शक्तियों का यहाँ वर्णन किया जायगा- सामान्य शक्ति, विशेष शक्ति। सामान्य योग्यता, विशेष योग्यता अथवा कहो ओघ शक्ति, समुचित शक्ति या द्रव्य शक्ति, पर्याय शक्ति।

उदाहरण पूर्वक सामान्य योग्यता और विशेष योग्यता का कथन- उदाहरण में यों समझ लीजिए कि जैसे मिट्टी में घड़ा होने की शक्ति। तो सभी मिट्टियों में घड़ा होने की शक्ति है। और किसी भी हालत में वह मिट्टी चाहे जमीन में पड़ी हो, बाहर पड़ी हो, निकली हो, सूखी निकली हो, सभी में घड़ा होने की शक्ति है तो वह कहलायेगी एक सामान्य योग्यता, पर विशेष योग्यता की दृष्टि से तो घड़ा होने की शक्ति उस मिट्टी में है जो घड़ा होने से पहिले की जैसी हालत में हो। जैसे मिट्टी रूप में समझियें कि जो मिट्टी सान करके चाक पर रखी है और चाक घुमाकर उस मिट्टी को दबाकर कुम्हार ने घड़ा बनाना शुरू किया तो घड़ा बनने से पहिले जो हालत रहती है मिट्टी की, जिसे कहते हैं कुसूल पर्याय। एक छोटी कोठरी जैसा आकार बन जाता है, उसके पश्चात् घड़ा बनता है। तो घड़ा बनने की विशेष योग्यता उस कुसूल पर्याय वाली मिट्टी में है। तो इसका नाम विशेष योग्यता है। तब जो परिणमन होता है उस परिणमन से तुरन्त पहिले जो परिणमन होता है

उस परिणमन वाली वस्तु को विशेष योग्यता कहा जाता है। सामान्य योग्यता तो यों है ज्यों मेरू पर्वत की जड़ के नीचे की मिट्टी है उसमें भी घड़ा बनने की योग्यता है, मगर क्या उस मिट्टी में कोई घड़ा बना देगा? नहीं बना सकता। उसमें विशेष योग्यता नहीं हो सकती। पर सामान्य योग्यता है। यह सामान्य योग्यता नित्य है, सदा रहती है। सामान्य और विशेष दोनों योग्यता परिणमन का आधार बनते हैं। सामान्य योग्यता तो सदा है, इसलिए वह कभी हो, कभी न हो, यह कहने में आयेगा ही नहीं जब सामान्य योग्यता वाले पदार्थ में विशेष योग्यता भी आ जाती है तब कार्य बनता है। द्रव्य परिणमन रहित कभी नहीं होता। इस कारण यह सिद्ध है कि वस्तु की मूल योग्यता, ओघ शक्ति, सामान्य योग्यता यह नित्य है, सदा रहती है और इस सामान्य योग्यता का पदार्थ में तादात्म्य है। अनादि अनन्त स्वरूप से वस्तु में सामान्य योग्यता पायी जाती है। किसी प्रकार के पदार्थ में क्या कार्य बनने की बात हो सकती है? ऐसे प्रश्न के समाधान में जो उत्तर हो उसमें सामान्य योग्यता का ज्ञान होता है। जैसे मिट्टी में घड़ा बन सकता है और काठ में घड़ा नहीं बन सकता, अथवा पत्थर में घड़ा न बनेगा, लेकिन अभी ये दोनों बातें ऐसी हैं कि कोई कहे कि पत्थर में पत्थर का घड़ा बना दो, उसको छेद करके काठ में काठ का घड़ा बना दो। तो और दृष्टान्त ले लो। जैसे वज्र में घड़ा नहीं बन सकता, आकाश में घड़ा नहीं बन सकता, जीव का घड़ा नहीं बन सकता। अनेक बातें ले लें तो मिट्टी में घड़ा बन सकता है, यह है सामान्य योग्यता की बात। पर जब मिट्टी सानकर तैयार कर चक्के पर रख दिया और उसकी कुठिया पर्याय बन गयी, उसके पश्चात् ही तो घड़ा बनेगा ना? तो वहाँ विशेष योग्यता प्रकट हुई। ये सब मोटे दृष्टान्त दिए जा रहे हैं।

**सामान्य योग्यता की नित्यरूपता व विशेष योग्यता की अनित्यरूपता-** सामान्य योग्यता का सही दृष्टान्त तो यों कह लीजिए कि पुद्गल परमाणुओं में घड़ा, कपड़ा आदि बनने की सामान्य योग्यता है। वे ही पुद्गल परमाणु मिट्टी बने और वही मिट्टी वृक्ष बन गया। तो यों पुद्गल परमाणु में पुद्गल की पर्यायें जितनी हो सकती हैं सबकी योग्यता है, केवल घड़ा ही नहीं, काठ, पत्थर, वज्र सभी कुछ बन जाय, ऐसी पुद्गल में सामान्य योग्यता है। तो सामान्य योग्यता तो काठ पत्थर के रूप में आये हुए परमाणुओं में घड़ा बनने की योग्यता है, लेकिन विशेष योग्यता वहाँ नहीं आयी। तो सामान्य योग्यता नित्य है, सदा रहती है। और केवल सामान्य की योग्यता से कार्य नहीं बनता। जब वहाँ विशेष योग्यता भी आती है तब कार्य बनता है। तो सामान्य योग्यता नित्य है। जैसे कि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है तो उसमें सामान्य विभाग तो नित्य रहता है। विशेष विभाग अनित्य भी होता है। और गुण रूप से किया हुआ विशेष विभाग नित्य भी होता है। यह योग्यता की बात है। सामान्य योग्यता नित्य है और विशेष योग्यता अनित्य है। क्योंकि विशेष योग्यता विशिष्ट पर्याय वाले पदार्थों में बतायी गई है और वह विशिष्टता उस पदार्थ में सदा नहीं रहती है। जैसे लोंधा कुठिया वाली मिट्टी में तो घड़ा बनने की विशेष योग्यता है। घड़ा बन गया, पक गया। क्या अब इस मिट्टी में भी घड़ा बनने की विशेष योग्यता है? नहीं है। वह विशेष योग्यता उस पर्याय के नष्ट होने में नष्ट हो गयी। तो विशेष

योग्यता अनित्य हुआ करती है। तो कार्य होने से पूर्व पर्याय में होने वाली योग्यता को विशेष योग्यता कहते हैं। वह विशेष योग्यता उस पर्याय से न पहिले थी, न बाद में रहेगी। जैसे- घड़ा बनने की विशेष योग्यता उस कुसूल पर्याय में आयी हुई मिट्टी में है। वह विशेष योग्यता उससे पहिले न थी और कुसूल पर्याय मिटकर घड़ा बन जाएगा तो अब घड़ा पर्याय में भी घड़ा बनने की विशेष योग्यता नहीं मिलती। तो यों विशेष योग्यता कार्य के पूर्वसमयवर्ती पर्याय युक्त पदार्थ में है। उससे पहिले भी नहीं और उससे पश्चात् भी नहीं।

**प्रागभाव के सिद्धान्त से भी विशेष योग्यता की सिद्धि-** दर्शन शास्त्र में चार प्रकार के भेद बताये गए- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। प्रागभाव का अर्थ है कि कार्य का प्राक् अभाव, अर्थात् पहिले अभाव होना। जैसे तीन पर्याय लो- कुसूल, घट और खपरियां। खपरियों का नाम है कपाल। घट कहलाया घड़ा और घड़ा बनने से तुरन्त पहिले जो हालत थी उसे कहते हैं कुसूल। हो जाता है ना मिट्टी का कुठिया जैसा आकार, और घड़ा फूटने पर कपाल होती है, तो घड़ा प्रागभाव है, कुसूल अवस्था में घड़ा नहीं है। घड़े का पहली पर्याय में अभाव है। जैसे पहली पर्याय में घड़े का अभाव है तो वह घट का प्रागभाव कहलाता है। घड़ा मिटने पर जो कपाल हुई वह घट का प्रध्वंसाभाव कहलाता है। घट के नष्ट होने पर जिस पर्याय में घट का अभाव बना वह घट का प्रध्वंसाभाव है और घड़े का कपड़े में अभाव होना यह अन्योन्याभाव है। घड़े में कपड़ा नहीं, कपड़े में घड़ा नहीं, इस अभाव का नाम अन्योन्याभाव है। और घड़े में जीव का अभाव- यह अत्यन्ताभाव है। त्रिकाल में भी घड़ा जीव न बन सकेगा। तो इन चार प्रकार के अभावों में प्रागभाव की बात इस समय कह रहे हैं। प्रागभाव का अर्थ यह हुआ कि घड़े से पहिले होने वाली पर्याय में घड़े का अभाव होना सो घड़े का प्रागभाव है कुसूल। अब यहाँ ये देखिये कि घड़ा कैसे बना? प्रागभाव का नाश हुआ कि घड़ा बन गया। घड़े का प्रागभाव है कुसूल और कुसूल पर्याय नष्ट हुई कि घड़ा बन गया। तो यों कह लीजिए कि घड़े के प्रागभाव का अभाव होने का नाम है घड़े का होना। यह दार्शनिक दृष्टि से चर्चा चल रही है। अब यहाँ यह बात खोजना है, घड़े का पहिले पर्याय में अभाव होना सो घड़े का प्रागभाव है। तो घड़े का अभाव कुसूल में है तो घड़े का अभाव कोश में भी है। याने कुठिया पर्याय से पहिले कोश पर्याय बनती है। एक पिण्ड जैसा और उससे पहिले स्थास पर्याय होती है। जैसे कि मिट्टी सान कर सनी सनाई धरी है और उससे पहिले मिट्टी की सूखी पर्याय है। तो जितनी पहिली पर्यायें है सभी पर्यायों में घड़ा नहीं है। तो घड़े का प्रागभाव सारी पर्यायें हुई। घड़ा होने से पहिले जितनी पर्यायें मिट्टी में हुई वे सब प्रागभाव कही जानी चाहिए। और कहा वह गया कि प्रागभाव का अभाव होने से घड़ा बनता है तो मिट्टी में सूखी पर्याय का अभाव किया, सान लिया तो उसे घड़ा कह दिया जावे। क्योंकि प्रागभाव के मिटने का नाम तो पर्याय कार्य है न, ऐसी एक शंका उठायी जा सकती है। पर समाधान यह है कि इसको तो यह समझियें कि घड़े का प्रागभाव केवल कुसूल पर्याय में है। उस कुसूल पर्याय के मिटते ही घड़ा बन जायगा, अथवा पूर्व पर्याय में प्रागभाव माना तो घड़े का प्रागभाव घड़े से पहिले होने वाली अनन्त पर्यायें हैं। घड़े से पहिले होने वाली उन सभी अनन्त पर्यायों



का व्यय हुआ। चूंकि जब घड़ा बनेगा उस बीच अगर पूर्ववर्ती एक भी पर्याय है तो घड़ा न बनेगा। इसका भी तात्पर्य यह है कि कुसूल पर्याय पूर्ववर्ती पर्यायों का अभाव होने पर ही आवेगी, सो निष्कर्ष यही तो हुआ कि कुसूल पर्याय के व्यय में घट बनेगा, तो सामान्य योग्यता और विशेष योग्यता की बात कही जाती है। इस अध्यात्म चर्चा से उस दार्शनिक चर्चा का यह मेल खाता है कि घड़ा बनने की विशेष योग्यता कुसूल पर्याय में है। जब तक मिट्टी में विशेष योग्यता नहीं आती तब तक उस पर्याय के अनन्तर घड़ा पर्याय नहीं बन सकती।

**सामान्य योग्यता और विशेष योग्यता के वर्णन से दो तथ्यों का प्रकाश-जीव द्रव्य में घटा लीजिए-ये दोनों योग्यतायें।** जीव की जिस समय जैसी पर्याय होनी चाहिए, मानो सम्यक्त्व जगना है तो सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पूर्व समय में जो पर्याय जीव की हुई उस पर्याय में आये हुए जीव पदार्थ में विशेष योग्यता सम्यक्त्व की कही जायगी। अंतिम मिथ्यात्व है सम्यक्त्व का प्रागभाव क्योंकि उसके नष्ट होते ही सम्यक्त्व होता है। पर सामान्य योग्यता जीव में सदैव सम्यक्त्व की पड़ी हुई है। सामान्य योग्यता से यह निर्णय होता कि सम्यक्त्व जीव के ही हो सकता है, अन्य द्रव्य के नहीं हो सकता और विशेष योग्यता का यह निर्णय है कि जीव में इस समय सम्यक्त्व होगा इससे पहिले न होगा। तो उपादान में सामान्य योग्यता और विशेष योग्यता के आधार पर परिणमन होने की बात समझी जा सकती है। तब यह जानना होगा कि विशेष योग्यता विवक्षित पर्याय से पहिले नहीं रहती। किसी विवक्षित कार्य होने की योग्यता पदार्थ में किस समय आती है जब उस परिणति के योग्य पदार्थ हो गया। तो सम्यक्त्व होने के लिए एक दृष्टि से देखा जाय तो वे सब पूर्व पर्यायों कारण होती हैं जो सम्यक्त्व होने के विरुद्ध साधन रूप नहीं किन्तु कुछ उत्तरोत्तर सहयोग रखने वाली और ऐसी स्थिति से फिर ये सब कर्तव्य हो जाते हैं कि मंदिर में आये, दर्शन करें, ध्यान करें, ज्ञान सीखें, सत्संग करें, ये सब कर्तव्य हो जाते हैं। कोई यहाँ यह कहे कि सम्यक्त्व होने की विशेष योग्यता तो इस प्रकार की अवस्था में है। इससे पहिले की बातें करने की क्या जरूरत है? सो इस प्रकरण से यह जान लिया होगा कि ये सभी कर्तव्य किए जाने योग्य हैं, पर ध्येय जीव का इन सबसे हटने का रहता है। तो सम्यक्त्व की योग्यता जीव द्रव्य में है, अन्य द्रव्य में नहीं है। जो जीव द्रव्य कभी सम्यक्त्व पैदा न कर सकेगा अथवा कह लीजिए अभव्य जीव हैं, जिनके कभी सम्यक्त्व ही न होगा, उसके भी सम्यक्त्व की सामान्य योग्यता पड़ी हुई है। अभव्य जीव में भी सम्यक्त्व की, मोक्ष की, रत्नत्रय की सामान्य योग्यता है। सामान्य योग्यता के आधार पर द्रव्य की जाति का विभाग किया जाता है। मोक्ष, सम्यक्त्व जीव के ही हो सकता है, जीव को छोड़कर अन्य पदार्थों में नहीं हो सकता। इस बात को बताने के लिए जीव की सामान्य योग्यता हुआ करती है। जैसे मोटा दृष्टान्त है कि मेरू पर्वत की जड़ के नीचे रहने वाली मिट्टी से घड़ा कभी बन न सकेगा। वह यहाँ कहाँ आयगी? उसका साधन क्या मिलेगा? लेकिन उस मिट्टी में भी घड़ा बनाने की सामान्य योग्यता है। सामान्य योग्यता एक द्रव्य के प्रकार से बता देते हैं। किसी भी पर्याय में कोई पदार्थ हो, किस जाति के पदार्थ में किस किस तरह की परिणतियाँ हुआ करती हैं, इसका वर्णन सामान्य योग्यता के आधार पर होता है।

सामान्य योग्यता की दृष्टि से विशेष योग्यता का अभ्युदय- जीव द्रव्य के उत्कर्ष के लिए एक यह उपाय है या सम्यक्त्व की या शुद्ध परिणति की अवस्था पाने के लिए, योग्यता पाने के लिए यह उपाय है कि सामान्य योग्यता सम्पन्न उस जीव द्रव्य का अर्थात् जीव सामान्य का हम उपयोग करें, उसकी उपासना करें जीवत्व, यही सो सामान्य योग्यता का प्रतीक है। उस जीवत्व की उस पारिणामिक भाव की हम उपासना करें, जहाँ सामान्य योग्यता पड़ी हुई है तो उस उपासना के आश्रय से जीव में विशेष योग्यता वह प्रकट होती है कि जिससे शुद्ध परिणति बन जाती है। उपादान में शक्ति है, योग्यता है। इसका वर्णन सप्तम परिच्छेद में निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था बताने के प्रसंग में कहा, उस ही योग्यता के सम्बंध में इस परिच्छेद में विशेष चर्चा है कि पदार्थ में योग्यतायें किस किस ढंग से पायी जाती हैं, कब होती हैं और कब असर होता है? तो अब तक इस सम्बंध में केवल दो बातें समझ लीजिए कि प्रत्येक पदार्थ में सामान्य योग्यता और विशेष योग्यता होती है। सामान्य योग्यता नित्य है और विशेष योग्यता अनित्य है। सामान्य योग्यता अनादि अनन्त है, विशेष योग्यता कार्य होने से पहिले पर्याय से सम्पन्न पदार्थ में ही है, उससे पहिले और उसके बाद नहीं है।

उपादान में योग्यताओं का विवरण- उपादान में योग्यता को कितने प्रकार से समझना है उसके लिए ये तीन भाग बना लीजिए- एक सामान्य योग्यता, दूसरा विशेष योग्यता (पर्याय योग्यता) और तीसरा पर्यायविशेष योग्यता। सामान्य योग्यता तो पदार्थ में परिणमन की सदैव रहती है, और उसको इस प्रश्न के उत्तर में समझ लिया जाता है कि यह पदार्थ इस जाति का यह द्रव्य किन-किन रूपों से पर्यायों रूप परिणम सकता है? जो इसका उत्तर आयगा यह सब शक्ति सामान्य योग्यता में बात आयगी, और पर्याय योग्यता इस पर्याय में रहने वाला पदार्थ किन-किन रूपों से परिणम सकता है इन सब योग्यताओं को कहते हैं पर्याय योग्यता। जैसे मिट्टी में घड़ा आदिक अनेक प्रकार के बर्तन या और कुछ भी बनने की योग्यता है- यह तो हुई सामान्य योग्यता और घड़ा बनने से पहिले जो उसकी कुसूल पर्याय हुई मृतपिण्ड की, उसमें क्या क्या चीज बन सकती है? बड़ा घड़ा, छोटा घड़ा, डबले, दीपक, तश्तरी आदिक अनेक बातें बन सकती है। उन सबके परिणमन की योग्यता है उस पूर्व पर्याय में। इसको कहते हैं पर्याय योग्यता, और उससे बन क्या रहा है, उस प्रसंग में किस रूप परिणमने की बात चल रही है उस ही रूप योग्यता है इसको कहते हैं पर्याय विशेष योग्यता। पहिले जो योग्यता के दो प्रकार कहे गए थे- सामान्य योग्यता और विशेष योग्यता तो विशेष योग्यता में ये दोनों आ जाते हैं- पर्याय योग्यता और पर्याय विशेष योग्यता। अब एक व्यापक दृष्टि से देखा जाए कि जब कोई स्वभाव परिणमन होने को है तो स्वभाव पर्याय वाले द्रव्य में योग्यता एक ही प्रकार से काम करती है। जिस प्रकार से शुद्ध परिणमा है उसी तरह वह शुद्ध परिणमता जायेगा, ऐसी उसमें योग्यता है। लेकिन जब विभाव पर्याय बन रही हो जीव की तो उसमें जितने प्रकार का क्षयोपशम हो, उदय हो, संस्कार हो उतने प्रकार से परिणमने की उसमें शक्ति है। अर्थात् विभाव परिणमन के समय नाना प्रकार की पर्यायें योग्यता में बनने रूप परिणमने की योग्यता है और स्वभाव पर्याय वाले पदार्थ में, जीव में केवल एक ही प्रकार के

परिणमन होते रहने की योग्यता है। यह पर्याय योग्यता की बात कह रहे हैं। सामान्य योग्यता में तो जो परिणमा था, जो परिणम रहा, जो परिणमेगा, जिस-जिस प्रकार से परिणम सकता है वे सभी योग्यतायें मानी गई हैं, पर पर्याय योग्यता के सम्बंध में दो तरह की योग्यता है। स्वभाव पर्याय में जो पदार्थ हो उसमें केवल एक शुद्ध स्वभाव परिणमन की ही योग्यता है, और जो विकार पर्याय में पदार्थ हो उसमें नाना प्रकार के परिणमनों की योग्यता है।

**नाना योग्यतावान पर्याय में परिणत पदार्थ के प्रतिनियत परिणमन होने का कारण-** यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि किसी मलिन वस्तु में, विभाव परिणत पदार्थ में अनेक प्रकारों से परिणमने की शक्ति है तो वह अगले समय में सभी प्रकारों से क्यों नहीं परिणम जाता? जब विभाव परिणत पदार्थ में, मलिन संसारी जीवों में जब नाना तरह की कषायों रूप परिणमने की योग्यता है तो जिस किसी भी रूप अथवा सभी रूप क्यों नहीं परिणम जाता? समाधान में बात यह है कि जो विभाव परिणमन होता है वह औपाधिक होता है। उपाधि का निमित्त पाकर जो भाव होते हैं उन्हें औपाधिक कहते हैं। तो बाह्य उपाधि कोई निमित्त में हो और अंतरंग में विशेष योग्यता हो तो उस समय उसके अनुरूप प्रतिनियत परिणमन हो सकेगा। और वहाँ एक समय में एक ही तो परिणमन होता है, सारे परिणमन नहीं हो पाते। योग्यता होने पर भी जैसा अनुकूल निमित्त प्राप्त हो उस प्रकार से इसमें परिणमन होता है। तो यह परिणमन है उपादान योग्यता के अनुसार और उसकी कला की बात है यह कि अनुकूल निमित्त को पाकर वह पर्याय हो सकी।

अब यहाँ यह बात प्रश्न में आ सकती है कि जब किसी भी पर्याय के बाद कोई एक ही पर्याय होनी है और वही नियत है तब उसमें अनेक योग्यतायें क्यों मान ली जाती है? प्रत्येक पदार्थ में प्रत्येक विकारी पदार्थ में आगे एक ही पर्याय के परिणमने की योग्यता मानो कि जो बात उसमें बनेगी। जो बात उस पदार्थ में अगले समय में नहीं होती है उसकी योग्यता ही क्यों मानी जा रही है? यह प्रश्न एक किसी एकान्त आश्रय में हो सकता है। जहाँ यह निरखा जा रहा हो कि द्रव्य में प्रति समय परिणमन होते ही हैं और जिस समय जो होना है सो हो रहा है तो उसके बाद केवल उस ही पर्याय की योग्यता है, अथवा केवली ने, अवधिज्ञानियों ने जिस समय जो पर्याय देखा है, जाना है उस समय में वह पर्याय होगी। तो उसकी पहली पर्याय में केवल उस ही पर्याय की योग्यता है। अनेक योग्यता मानने की आवश्यकता नहीं है। यह प्रश्न है पर प्रथम पर्याय परिणत पदार्थ में निरीक्षण किया जाए तो यह विदित होगा कि इस तरह की पर्याय में रहने वाला पदार्थ आखिर किस किस प्रकार बन सकता है? जैसे कोई पुरुष इंग्लिश, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत इन भाषाओं का विद्वान है और पढ़ रहा है वह संस्कृत का पत्र, तो उस समय परिणमन तो यद्यपि संस्कृत विद्या का हो रहा है लेकिन संस्कृत पत्र पढ़ने के काल में अनेक विद्याओं के ज्ञान की योग्यता का अभाव नहीं है, योग्यता सभी की है, पर उपयोग एक ओर है। और जब कभी उस विद्वान के बारे में यह जिज्ञासा बने कि इसमें कितनी योग्यतायें हैं और आगे किस-किस पर्याय रूप परिणम सकने की योग्यता है? तो माना जायगा

कि चारों विद्याओं की योग्यता है। और आगे की बात जाने दो, वर्तमान में ही जैसे कि वह पढ़ रहा संस्कृत का पत्र, लेकिन योग्यता मानी जायगी चारों भाषाओं की और कदाचित् कभी किसी विद्या का पूरा विस्मरण हो जाये तो उस पर्याय में वह योग्यता न रही, अन्य रूप बात बन गई।

**उदाहरणपूर्वक विविध पर्याय योग्यताओं का कथन-** यहाँ पर्याय योग्यता की बात कह रहे हैं। सामान्य योग्यता से तो सभी जीवों में सब विद्याओं का ऐश्वर्य पड़ा हुआ है, पर वर्तमान पर्याय में परिणत पदार्थ के आगे किस पर्याय से परिणमने की योग्यता है, इस दृष्टि से कुछ सीमायें बन जाती है। तो जो विकार अवस्था में अनेक योग्यताओं की बात है वह इसी प्रकार है जैसे कि इस विद्वान में चारों विद्याओं के उपयोग कर सकने की बात है, अब जैसे चारों विद्याओं की योग्यता तो है उस पुरुष में, किन्तु संस्कृत का ही उपयोग परिणमन क्यों बन गया इसका? तो उसका उत्तर यह है कि संस्कृत पत्र हाथ में आया और उसका आश्रय करके उस ही को जानने समझने का यत्न किया तो उसका उपयोग बन गया, परिणमन बन गया। ऐसे ही पर्याय योग्यता में अनेक प्रकार के परिणमन की योग्यता है, लेकिन जैसा निमित्त प्राप्त हुआ उस प्रकार से वह परिणम गया। जैसे कुम्हार के चाक पर मिट्टी का लौंघा तैयार रखा है और उस मिट्टी के लौंघे में आप बतलाओ क्या क्या बनने की योग्यता है? तश्तरी, दीपक, डबला, घड़ा आदिक सभी बन सकते हैं। उसमें कुम्हार जिस तरह का व्यापार करता है, जितना ऊँचा नीचा हाथ चलाता है उस प्रकार के व्यापार का निमित्त पाकर मिट्टी में उस ही प्रकार का फैलाव बनता है और उस प्रकार का बर्तन बनता है। योग्यतायें अनेक होकर भी अनुकूल निमित्त के अनुसार वहाँ परिणमन हुआ। देखिये- सर्वतोमुखी ज्ञान करना है तो निरखिये किसी बालक में किस- किस प्रकार से बनने की योग्यता है? वैसे देखा यों जाता है कि कोई बालक डाकू (चोर) बन जाता, कोई झूठा बन जाता, कोई अच्छा, सच्चा, बुद्धिमान बनता तो होता क्या है कि मूल में उस प्रकार की उसकी योग्यता है और ऐसी कितनी ही योग्यतायें हैं, पर जैसा संग मिला, जैसा वातावरण मिला, जैसा उपयोग मिला, उस प्रकार से बन गया, इतने पर भी बालक बना है अपनी ही योग्यता से, अपनी ही परिणति से। दूसरे की परिणति से नहीं बना।

**निमित्त नैमित्तिक भाव और उपादान योग्यता के निरूपण में उपलब्धव्य शिक्षा-** योग्यताओं के इस विवरण में शिक्षा के लिए दो दृष्टियों में शिक्षा मिल सकती है। किसी माँ का बालक बहुत अच्छा होनहार सुशील धर्मप्रेमी था, और 2, 4, 6 माह में किसी खोटे बालक का संग हो जाने से उसमें व्यसन आने लगे तो कोई कहता है उसकी माँ से कि तेरा बेटा तो ज्वारी बन गया है तो माँ यों कहती है कि मेरा बेटा ज्वारी नहीं है। वह तो उस दूसरे बालक का असर है। अब देखिये माँ की कितनी विशुद्ध दृष्टि है कि वह अपने बालक को बुरा नहीं देखना चाहती और जिस अच्छे स्वभाव में वह बालक था उस ही रूप अब भी मान्यता रख रही है। और जो ज्वारीपन की आदत आयी है उसको दूसरे बालक की बता रही है। अब इसमें वे सभी बातें शिक्षा की आ गई। मेरा बेटा यद्यपि इस समय ज्वारी हो रहा है लेकिन यह व्यसन मिटाया जा सकता

है। उस बालक का संग छूटा दें तो वह व्यसन मिट जायगा। और साथ ही वह माँ यह भी जान रही है कि उस ज्वारी के संग से ज्वारी बना है लेकिन बना तो मेरा बेटा है। इसका बुरापन मिटाना है। यों दोनों तरह से इस माँ को ज्ञान है, इसका विश्लेषण वह माँ कर सके या न कर सके, मगर दृष्टि में दोनों बातें हैं। इसी प्रकार जो सम्यग्ज्ञानी पुरुष है उनकी दृष्टि में दोनों बातें हैं, जो विकार आया है, विभाव आया है वह मेरे आत्मा का नहीं है, यह तो कर्मोदय, बाह्य वातावरण इन सबका असर है। इन सबकी वह छाया है, अतएव यह विकार मिट सकता है। यह विकार मेरे स्वभाव की चीज नहीं है, और हुए ये कर्मोदय और आश्रयभूत पदार्थों के प्रसंग में, किन्तु इतने पर भी मैं ही तो बुरा हो रहा हूँ, इसमें बरबादी तो मेरी ही है। इसे मिटाना चाहिए। अब उस बालक की आदत मिटाने के उपाय तो दो प्रकार के थे- उस ज्वारी बालक का संग छूटा दिया जाय और किसी भले पुरुषों के संग में बना दिया जाय। किन्तु यहाँ उपाय और भी सुगम है। तीन प्रकारों से इन विकारों को हटाया जा सकता है। एक तो उन आश्रयभूत पदार्थों का संग मिटा दिया जाय जिनके बीच रहकर बुरे भाव हुए। दूसरे- किन्हीं भले पुरुषों के संग में अपने को रखा जाये, पर ये दोनों बातें केवल ऊपरी उपाय हैं। उपाय तो वास्तविक यह है कि अपने आपकी ऐसी उपासना बन जाय कि ये कषाय भाव (विकार भाव) मेरे कुछ नहीं है, ये तो मेरी बरबादी ही करने वाले हैं। ये मेरे स्वभाव में नहीं हैं। मैं तो अकिन्चन स्वभाव वाला केवल अपने चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ। मेरे प्रदेश, मेरे गुण समुदाय, मेरा स्वरूप सर्वस्व यही मेरी दुनिया है। इससे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। इस प्रकार स्वभाव की उपासना बने तो यह विभाव परिणमन दूर हो।

**उपादान में भावी प्रतिनियत एक ही पर्याय की योग्यता मानने पर पदार्थ की विशेषता का अपरिचय तथा व्यवस्था का लोप-** यहाँ बात चल रही है पर्याय योग्यता की कि पर्याय में योग्यतायें किस प्रकार की पायी जाती हैं। एक तो सामान्य योग्यता, दूसरी पर्याय योग्यता, तीसरी पर्याय विशेष योग्यता। विभाव पर्याय में परिणत पर्याय में किन-किन रूपों में परिणमने की योग्यता है? इसका जो उत्तर होगा उसका सम्बंध पर्याय योग्यता से है और इस पर्याय के बाद यह पदार्थ कैसे एक पर्याय में आयगा?

इस प्रश्न का जो उत्तर है वह पर्याय विशेष योग्यता से सम्बंधित है। इस प्रकरण में यह एक जिज्ञासा बन सकती है कि जब किसी पर्याय के बाद पदार्थ में एक कोई प्रतिनियत पर्याय होनी है, अनेक पर्यायें होनी ही नहीं है तो क्यों न उस पदार्थ में एक ही पर्याय की योग्यता मान ली जाय? अनेक पर्यायों की योग्यता क्यों मानी जाती है? उस कुम्हार के चाक पर पड़ी हुई मिट्टी में कुम्हार जो बनायेगा, जैसा हाथ चलायेगा वैसा ही बर्तन बनेगा। तो उस मिट्टी लौधे में क्यों नहीं उस एक ही पर्याय की योग्यता मानी जाती? अनेक योग्यतायें क्यों मानी जा रही है? बात इस सम्बंध में यह है कि यद्यपि किसी भी पर्याय परिणत पदार्थ में आगे कोई एक पर्याय होगी, अनेक पर्याय न होगी और जिस विधान से जो पर्याय होनी होगी उसे कोई विशिष्ट अवधिज्ञानी जान भी लेते हैं। लेकिन इस दृष्टि से उस पदार्थ में कितनी योग्यता है, क्या योग्यता है,

यह तथ्य नहीं जाना जा रहा। यह तो एक सीधा सा सुगम खेल जैसा ज्ञान बनता है कि बस जिस पर्याय में आवेगा, यह पदार्थ इसमें केवल उसी पर्याय की योग्यता है। यद्यपि कोई पदार्थ आगे एक पर्याय में ही परिणम जाती सो वह आयी, ठीक है, पर तर्क वितर्क उसमें योग्यता के तथ्य का वर्णन करेंगे। उस ही प्रकार की पर्याय में रहने वाले भिन्न-भिन्न जगह के मिट्टी के लोंधे, उनसे कहीं कुम्हार घड़ा बना रहा, कहीं दीया, अथवा उस ही लोंधे में उस ही प्रयोग में अभी घड़ा बनाया, थोड़ी देर बाद दीपक बनाया, वहाँ जाना जाता है कि इस पदार्थ में कितनी प्रकार की योग्यता है? किसी आटे की लोई को किसी भुने हुए आटे से कोई 6 इंच की रोटी पसार कर रोटी बनायेगा, तो इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस गुमे हुए आटे में केवल 6 इंच पसरी रोटी बनने की योग्यता है। बुद्धि से वहाँ निर्णय किया जायेगा कि इसमें इतनी इतनी प्रकार की चीजें बन सकती है, तो पर्याय योग्यता में अनेक प्रकार की परिणमनों की योग्यता पड़ी हुई है। अब वहाँ जैसा अनुकूल साधन मिले उस प्रकार से परिणमन हो जाता है। यही अन्तर है स्वभाव परिणमन और विभाव परिणमन में। स्वभाव परिणमन के लिए निमित्त नहीं होते। केवल काल द्रव्य निमित्त है। सो वह साधारण निमित्त है, अतएव एक ही प्रकार का परिणमन चलता रहेगा, पर विभाव परिणमन में निमित्त आश्रयभूत अनेक आते हैं, इस कारण पर्याय योग्यता में अनेक प्रकार से परिणमन की योग्यता होने पर भी जिस प्रकार के अनुकूल निमित्त का सन्निधान पाया उस प्रकार परिणम गया।

**प्रतिनियत पर्याय होने पर भी विधिविधान का अनुच्छेद-** देखिये यह है एक दूसरी दृष्टि की बात कि उस पदार्थ में जो कुछ होना था आगे वही हुआ, और कुछ नहीं हुआ। और इस तथ्य को विशिष्ट ज्ञानी ने पहिले से जान रखा था। सो देखो जो जाना था वही हुआ, ऐसी बात यद्यपि है, लेकिन जहाँ योग्यता का उत्तर देना है तो वहाँ तो तर्क वितर्क से उत्तर दिया जायगा। उस पदार्थ में कितनी प्रकार से परिणमन की योग्यता है और जो ज्ञानी पुरुष ने जाना वास्तव में पदार्थ में जो अगले समय में परिणमन होना था हुआ। इस दृष्टि से उस पर्याय में केवल इस पर्याय के ही परिणमन की योग्यता है। यह कथन है पर्याय विशेष योग्यता का, और वह निर्णय है केवल एक दृष्टि से। इन्हीं चर्चाओं से सम्बंधित अनेक चर्चायें बन बैठती हैं। जिस दृष्टि में केवल यह ही निर्णय करके बताया जा रहा हो कि जो पर्याय बनेगी, केवल उस ही की योग्यता है, वहाँ निमित्त की कोई चर्चा नहीं है और उस समय निमित्त जो पड़े सो उसे आरोपित आदिक शब्दों में बोला जायगा। यद्यपि बात यह भी तथ्य की है कि अगले समय में किसी भी पर्याय रूप परिणमन होना तो है। जिस रूप परिणमन होना है उस ही रूप परिणमन होता है, और ज्ञानी संत भी जान लेते हैं, लेकिन वह परिणमन भी यों ही नहीं हो गया। अनुकूल निमित्त सन्निधान पाकर उस उपादान ने अपना प्रभाव प्रकट किया और यों उन सभी मंतव्यों का समन्वय होता है। काम की बात तो इतनी है कि मैं विकार रूप नहीं हूँ। विकार से मैं हट सकता हूँ। अपनी स्वभाव सत्ता रूप हूँ, यह शिक्षा लेना है और यह शिक्षा उन सभी के मंतव्यों से ली जा सकती है, पर इसके मंतव्य के निराकरण का, विरोध का हठ हो जाने पर और अपने ही आशय का हठ हो जाने पर

उसका उपयोग ही बदल जाता है, अपनी बात की सिद्धि वाला उपयोग रहता है, फिर इस शिक्षा का प्रयोग नहीं कर पाता कि मैं विभाव विकारों से रहित केवल शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ।

**सम्भावना विधि से पर्याय योग्यताओं का अवगम-** किस पर्याय के रहने वाले पदार्थ में कितनी प्रकार से परिणमने की योग्यता है, ऐसी विशेष योग्यता जानने का स्थूल उपाय सम्भावना है। जैसे कुम्हार के चाक पर चढ़ी हुई मिट्टी में सम्भावना की जाती है कि यदि कुम्हार सकोरा के आकार के अनुरूप हाथ चलाये तो सकोरा बन जाये, दीपक के आकार के अनुकूल हाथ चलाये तो दीपक बन जाये, घड़े के आकार के अनुकूल लम्बा चौड़ा हाथ फिराये तो घड़ा बन जाये, परन्तु चलाया उसने एक सकोरा के ही आकार के अनुकूल हाथ। तो वहाँ सकोरा की पर्याय हुई। तो इन सम्भावनाओं से पहिले ये जान सकेंगे कि उस मिट्टी में कितनी प्रकार के परिणमन हो सकने की आवश्यकता है? यह तो एक पुद्गल की बात है और जीव में योग्यता होती है जीव के भाव रूप से। जैसे- छद्मस्थ पुरुषों में योग्यता क्षयोपशम रूप है और परमात्मा में योग्यता क्षायिक लब्धिरूप है। पर्याय योग्यता अर्थात् किसी विशिष्ट पर्याय में रहने वाले पदार्थ में कितनी प्रकार के परिणमन हो सकते हैं, ऐसा समझने का उपाय सम्भावना है और एक दृष्टि से तो कुछ भी एक पर्याय ही होगी ना। उसे ज्ञानियों ने जान भी लिया, और जैसा होना है, निमित्त योग है उस रूप से वह होगा। तो हुआ भी कोई एक प्रतिनियत परिणमन। तो पर्याय विशेष योग्यता की दृष्टि से उसमें प्रतिनियत पर्याय की योग्यता है। यों योग्यतायें तीन भागों में हो गयीं- सामान्य योग्यता, पर्याय योग्यता और पर्याय विशेष योग्यता।

**विशेष योग्यता माने बिना व्यवस्था का उच्छेद-** अब इस प्रसंग में यह जिज्ञासा हो सकती है कि पहिले निमित्त नैमित्तिक भाव का वर्णन किया था और अब भी झलक आती रहती है कि किसी योग्य निमित्त का सन्निधान पाकर उपादान में योग्य कार्य होता है। तो जब निमित्त मिलने पर कार्य सिद्ध होता है तब विशेष योग्यता मानने की जरूरत क्या थी? **समाधान-** जरूरत यह है कि यदि विशेष योग्यता न मानी जाये और विशेष योग्यता के अभाव में निमित्त कारण मिलने पर कार्य होने लगे तब तो सभी कार्य हो लेने चाहिए। क्या वजह है कि मिट्टी से कपड़ा नहीं बनता। मिट्टी में घड़े जैसे ही कार्य बन पाते हैं। निमित्त वहाँ जुटा दिया जाये- जुलाहा और उसके सारे हथियार (औजार) सब प्रकार के साधन जुटा दिए जायें तो भी उस मिट्टी से कपड़ा कैसे बनेगा? अथवा बालू से तैल भी कोई पेलने लगे, साधन तो जुटा दिया, कोल्हू में पेल दिया, पानी छिड़क दिया फिर उस बालू से तैल क्यों नहीं उत्पन्न होता? तो विशेष योग्यता का अभाव है इस कारण ऐसा कार्य नहीं बनता। जीव के कल्याण के साधन भी समय-समय पर मिलते हैं। समवशरण में अनेकों जीव दिव्यध्वनि सुनते हैं, दर्शन करते हैं, फिर भी सबको सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हो पाता? इसका कारण यह है कि उस प्रकार की वहाँ विशेष योग्यता अभी न थी, जैसी पर्याय में सम्यक्त्व पाने की योग्यता हो सकती है। वह पर्याय न थी तब समवशरण में जाकर भी दिव्यध्वनि धर्मोपदेश श्रवण करके भी सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हुआ। तो पदार्थ में विशेष योग्यता मानना ही पड़ेगा। अन्यथा सब अटपट कार्य होने लगेंगे और कोई व्यवस्था न बन



सकेगी। और न आत्महित का वहाँ कोई मार्ग मिल पायेगा। जब पदार्थ अपने अपने में अपनी योग्यता लिए हुए हैं और अपनी ही योग्यता से वे परिणमन करते हैं, यह विदित होता है तब वहाँ स्वतंत्रता का भान होता है। अब उपादान में योग्यता तो हो नहीं और कोई पुरुष कोई निमित्त उसमें कार्य कर दे जो कि असम्भव है, योग्यता के अभाव में निमित्त क्या कार्य करेगा? और यहाँ योग्यता का अभाव माना जा रहा है तो इसके मायने यह है कि पदार्थ ही नहीं है। असत् है। निमित्त किसी पदार्थ का कार्य कर देता, वहाँ योग्यता मानने की आवश्यकता नहीं है। नहीं है योग्यता तो ऐसी स्थिति में पदार्थ असत् कहलाया। वहाँ है ही क्या? शक्ति नहीं, स्वभाव नहीं, तब फिर पदार्थ ही क्या रहा? तो यों असत् का उत्पाद होने लगेगा। तो विशेष योग्यता माने बिना कोई व्यवस्था बनती ही नहीं है और न उसमें कोई हित का मार्ग झलकता है।

**कल्याण के लिए अनिवार्य मोहपरिहार के यत्न में उपादान स्वातन्त्र्य के अवगम की अनिवार्यता-** जीव को अपने हित के लिए चाहिए मोह का परिहार। जिसके तन में, धन में, जन में किसी भी प्रकार का मोह का अंश रहेगा तो लेशमात्र मोह रहने पर भी सम्यक्त्व नहीं होता, और सम्यक्त्व बिना सारा यह जीवन निष्फल है। यों अनन्त बार जन्म लिया और जिन्दगी में रहे, उस जिन्दगी में अनेक प्रसंग आये। मोह भी वहाँ बहुत किया। तत्त्व क्या निकला? आज अपने लिए अनन्तभवों की बात कुछ भी न रही। जो- जो प्रसंग आये। तो इसी प्रकार इस जीवन में भी जो प्रसंग आ रहे हैं वे क्या रहेंगे? कुछ भी नहीं। तो कल्याण है मोह के हटाने में। जहाँ मोह दूर होता है वहाँ चित्त में उदारता उत्पन्न होती है। वहाँ तृष्णा का रंग नहीं हटता और ऐसी स्थिति में उस चित्त में ऐसी पात्रता होती है कि वह अखण्ड निज चैतन्य स्वभाव का अनुभव कर सकता है। स्व का अनुभव करने के समान जगत में और कोई वैभव नहीं। एक मात्र यह ही सारभूत है कि अपने ज्ञान में अपना ज्ञानस्वरूप बस जाया। यह ही मात्र मैं हूँ अकिञ्चन स्वभाव वाला, केवल ज्ञानानन्द मात्र एक ज्योतिमात्र भावात्मक। अमूर्त यह मैं स्वयं हूँ, ऐसा दृष्टि में रहे। इसके अतिरिक्त मेरा परमाणुमात्र भी नहीं है। इस श्रद्धा में बसने वाले पुरुषों का कल्याण होता है। यह बात मिलेगी उपादान की स्वतंत्रता जानने से। पदार्थ की आजादी समझने से जिससे यह बोध होता है कि एक पदार्थ का दूसरा पदार्थ कुछ भी नहीं लगता। यह बात तो तभी चित्त में समायगी जब कि यह भी सुबोध बन रहा हो कि प्रत्येक पदार्थ में अपनी-अपनी योग्यता है, अपना-अपना शीलस्वभाव है और अब यहाँ कोई योग्यता ही न माने तो वस्तु में फिर माना ही क्या? चीज क्या रही? और वह तो एकदम परतंत्र ही हो गया। हो नहीं गया, पर मोह में ऐसे कार्य करें कोई, तो मोह में ही परतंत्रता के विकल्प की बात उत्पन्न हो जायगी। लो- निमित्त जो चाहे सो कर देता है, उपादान में तो योग्यता नहीं होती है। बिना ही योग्यता के उसे निमित्त परिणमा देता है। तो यों निमित्त कर्तृत्व मानने पर फिर तो निर्मोहता का कोई अवसर न मिला।

**कल्याण के लिए सम्यकबोध की प्रथम आवश्यकता-** कल्याण के लिए, मुक्ति मार्ग पाने के लिए सत्य बोध की आवश्यकता है। और सत्य बोध में यह बात बन रही है कि प्रत्येक पदार्थ परिपूर्ण है, अखण्ड है, अपने आप



में अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य धर्म से तन्मय है, अतएव सर्व पदार्थ स्वतंत्र है। किसी का कोई कुछ नहीं लगता। मेरा मात्र मैं ही हूँ। मेरी सारी जिम्मेदारी मुझ पर ही है। मैं जैसे भाव करूंगा वैसा भविष्य भोगूंगा। भले ही हम कोई शुद्ध बोध के बल पर, शुद्धभाव के बल पर पूर्वबद्ध कर्मों को भी निर्जीर्ण कर दें और उन्हें निष्फल कर दें, पर यह बात बहुत बड़े पुरुषार्थ से सम्भव है। जब उपयोग स्वानुभव का रस पीता रहे तो उस स्थिति में सामर्थ्य है ऐसा कि भव-भव के बाँधे हुए कर्म भी खीर जाते हैं। और ऐसा होना पड़ेगा, क्योंकि जो भी कोई जीव मुक्त जायेगा उसके तो विकट अनगिनते भवों के बाँधे हुए कर्म पड़े हैं, उनके बिखरने का उपाय यह ही संयम, तपश्चरण, ध्यान, स्व का आश्रय है। तो यह ही बात एक सार की है और यह मार्ग मिलता है तब जब कि हम पदार्थों की स्वतंत्रता का परिचय पा लें। पदार्थ का सम्पूर्ण परिचय पाने के बाद उस पदार्थ के सम्बंध में हमें जिस तत्त्व की ओर अधिक दृष्टि देनी है उस तत्त्व पर दृष्टि पहुंच सकती है। पदार्थ अपने असाधारण गुणरूप है और उसमें उसके अनुरूप परिणमन होने की योग्यता है। यहाँ यह हठ करना अनुचित है कि किसी विवक्षित पर्याय के बाद जो पर्याय होनी है उसकी ही योग्यता है। वस्तु है, उसका निर्णय है यह। हुई वही पर्याय प्रतिनियत जो होने की थी, जो ज्ञानियों ने जान लिया, किन्तु जब तर्क वितर्क द्वारा उसके निर्णय करने चलते हैं तो यह सब समझना होगा कि इस प्रकार की पर्याय से परिणत पदार्थ में ऐसे-ऐसे कार्य हो सकते हैं। होगा एक ही कार्य, मगर निर्णय और परीक्षण तो पूर्ण रूप से किया जाता है।

**प्रतिनियत पर्याय की ही योग्यता मानने पर सत्कार्यवाद के द्वार का उद्घाटन-** यदि ऐसा ही एकान्त हठ किया जाय कि पदार्थ में केवल अगली पर्याय होने मात्र की योग्यता है, अन्य कुछ नहीं है तो यों तो इसी लाइन में बढ़कर सत्कार्यवाद आ जायगा। सत्कार्यवाद सिद्धान्तानुयायी यह मानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में उसमें जितनी परिणतियाँ होंगी वे सबकी सब सदैव हाजिर हैं। अभी भी हाजिर हैं। बस क्रम-क्रम से एक-एक पर्याय मिटती जाती है। एक बट के दाने में क्या-क्या भरा हुआ है? बट के बीज का एक दाना जो कि सरसों से भी छोटा होता है, जो राई से भी छोटा होता है उसमें क्या-क्या भरा है? सत्कार्यवादियों के आशय के अनुसार उसमें एक पेड़ भी भरा हुआ है, क्योंकि जब उस बीज को बो दिया जायगा तो पेड़ बन जायगा। तो उस दाने में इस समय भी पेड़ भरा है और उस पेड़ में करोड़ों फल पैदा होंगे। वे फल भी उसमें भरे पड़े हैं और एक-एक फल में हजार-हजार दाने होंगे, वे भी भरे पड़े हैं। और प्रत्येक दाने में एक-एक वट वृक्ष, फिर अनेक वृक्ष भी पड़े, लो अब कितने मान लिए जावें? एक बट के दाने में अनगिनते पेड़ भी घुसे हैं, फल भी पड़े हैं, यह सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है, और माना है कि वह परिणमन क्रम से निकलता रहता है। निकलता क्या? जो था वही प्रकट हो गया। अब यहाँ निमित्त नैमित्तिक सिद्धान्त की बात गौण हुई और व्यवस्था भी कुछ न रही। कैसे जगत के पदार्थों के परिणमन होते हैं यह कोई व्यवस्था न रही। तो यों ही कोई माने कि बस पदार्थ में केवल आगामी पर्याय होने की एक ही योग्यता है, अन्य कुछ होता नहीं तो इसी प्रकार किसी प्रयोग में सत्कार्यवाद जैसी झलक आ जाती है। लोक में जो व्यवस्था बनी हुई है, वह इसी आधार पर बनी

हुई है कि पदार्थ में कुछ सीमा को लिए हुए, उस जाति को लिए हुए अनेक परिणमन होने की योग्यता है। तब वहाँ निमित्त साधन सब जुटते हैं और उसमें कार्य होता है। तो पर्याय योग्यता के परिचय से यह विदित होता है कि किस-किस प्रकार के परिणमन करने की योग्यता है?

उपादान में अनेक योग्यतायें होने पर भी एक साथ सभी परिणमनों का प्रसंग न आने का कारण- यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि जब किसी पदार्थ में अनेक प्रकार के परिणमन होने की योग्यता है तो उनमें से कोई एक ही खास प्रतिनियत परिणमन क्यों होता है? सभी क्यों नहीं एक साथ हो जाते? या निमित्त कुछ भी जुटा हो, अन्य प्रकार परिणमन क्यों नहीं हो जाता? इसमें अव्यवस्था बन जायगी यदि पदार्थ में केवल एक ही प्रतिनियत भावी परिणमन की योग्यता न मानी जाये। उत्तर उसका यह है कि यद्यपि पदार्थ में अनेक प्रकार से परिणमन करने की योग्यता है लेकिन शुद्ध पदार्थ में तो उपाधि के अभाव के कारण अपने ही सत्त्व के शील के अनुरूप शुद्ध परिणमन होता रहेगा। और विभाव परिणमन की बात यह है कि वह औपाधिक परिणमन है, उस समय जिस प्रकार का उपाधि संयोग होगा, जैसी बाह्य उपाधि का निमित्त पाएगा उसके अनुकूल विभाव परिणमन हो जाता है। जैसे कोई कपड़े का टुकड़ा पड़ा है उसमें गीला होने का भी काम हो सकता और जल कर खाक होने का काम भी हो सकता। अब अग्नि का संयोग मिला तो खाक हो जायगा, पानी का संयोग मिला तो गीला हो जायगा। वहाँ यद्यपि हुआ एक ही परिणमन, लेकिन योग्यता समझने का आधार तो कोई विवेक है, वितर्क है, कोई कपड़ा खाक हो गया, कोई कपड़ा गीला हो गया तो सभी जगह देखकर निर्णय तो हुआ ना कि इतने प्रकार से परिणमने की योग्यतायें है, पर हुआ एक ही परिणमन। सारे परिणमन एक साथ नहीं हुए। तो निमित्त नैमित्तिक भाव और पदार्थ की स्वातंत्र्य उपादान की योग्यता- ये सब मानने पर एक भी शंका नहीं रहती। किसी भी प्रकार की शंका किसी एक हठ में ही रहने के कारण होती है। तो यह जानना कि पदार्थ में अनेक प्रकार से परिणमने की योग्यता होने पर भी जिस उपादान ने जैसे उपाधि बाह्य को निमित्त पाया उसका उस अनुरूप परिणमन हो गया।

निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी निमित्त उपादान में कर्ता कर्म भाव की अनुपपत्ति- निमित्त नैमित्तिक भाव की बात सुन कर चित्त में यह शंका न करना चाहिए कि इस तरह तो कर्ता कर्म भाव की बात निमित्त उपादान में जुट जायगी। देखो ना-जैसा अनुकूल निमित्त मिला वैसा उसमें परिणमन हुआ। फिर तो कर्ताकर्म भाव एक का एक ही में रहता है, यह व्यवस्था न बनेगी। ऐसी शंका न करें, कारण कि प्रत्येक पदार्थ में किसी भी पर का कोई कार्य त्रिकाल भी नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप को लिए हुए है और अपने ही शील से परिणमन करता रहता है और इस प्रसंग में निमित्त के साथ कर्ता कर्म भाव की बात भी नहीं आयी। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की कुछ चर्चा चली है कि उपादान में अनेक प्रकार से परिणमन की योग्यता होने पर भी जैसा अनुकूल निमित्त प्राप्त किया उस प्रकार से वह विभाव रूप परिणम गया। इसमें निमित्त नैमित्तिक भाव और उपादान की परिणमन स्वतंत्रता ये दोनों बातें निरखनी चाहिए, और ऐसा निरखने पर वस्तु का सम्यक्

बोध बनता है। ऐसा होता ही रहता है। हम आप सबके साथ ये ही घटनायें चल रही हैं। कोई जीव पाप कार्य करता रहता है तो उसके उपादान में उस-उस प्रकार की योग्यता बन जाती है। जो अपने आप में समृद्ध रूप से अनुभव नहीं कर पाता, जो अपने आप में उत्कर्ष मार्ग को नहीं निरख पाता, योग्यता बन जाती है ऐसी, जो जीव निष्पाप रहता है अपने आपके ज्ञान के उपयोग में रहता है उस पुरुष के इतनी योग्यता है कि सर्व विशिष्ट चैतन्य मात्र निज तत्त्व का अनुभव करने की उसकी ऐसी योग्यता होती है कि जब उसके जी में ऐसी बात आयी, स्वानुभव कर लेता है, अन्यथा बड़े-बड़े यत्न करने पर भी मन नहीं लगता, स्व का उपयोग नहीं बन पाता। विशेष उलझनें न होने पर भी अंतः ऐसी योग्यता नहीं हो पाती कि वह स्व का अनुभव कर सके और एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष बाह्य में अनेक उलझनें होने पर भी ऐसी योग्यता पा लेता है कि वह क्षण में कुछ था और क्षण में स्वानुभवी बन जाता है। जो चक्रवर्ती छह खण्ड का धनी होता है, जिसमें उलझनों की बातें अनेक सामने पड़ी रहती हैं, लेकिन जब अपने को सबसे निराला जान लिया तो उलझन के समय उलझनें भी बहुत कीं और कुछ ही क्षण बाद उन उलझनों को एकदम चित्त से निकाल कर ज्ञानमात्र स्व में अनुभव में उसका उपयोग लग जाता है। तो पदार्थ की स्वतंत्रता का परिज्ञान होने पर ऐसी ही शक्ति आत्मा में प्रकट होती है और वह बात तब बन पायगी ज्ञान में कि जब पदार्थों में योग्यता स्वीकार करें, निजी समृद्धि सर्वस्व स्वीकार करें। जैसा कि वह अपने-आप में परिपूर्ण है वैसा दृष्टि में लें तो मोह दूर होगा और तब सर्व विविक्त निज ज्ञानानन्द स्वरूप का अनुभव प्राप्त होगा। बस आत्मा का उत्कर्ष इसी पर्याय में है, अन्य कुछ भी यत्न किए जायें, उनसे आत्मा को कुछ भी सिद्धि नहीं है।

**उपाधि सापेक्ष विशेष पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से पर्याय विशेष योग्यता का निर्णय-** यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि किसी भी पर्याय में परिणत पदार्थ में कितने प्रकार के परिणमन की योग्यता पायी जाती है? इस सम्बंध में दो बातें रखी गईं। एक दृष्टि से तो उसमें जितनी सम्भावनायें हो सकती हैं या उस-उस प्रकार के अनेक पदार्थों में जो-जो परिणमन हुए विदित होते हैं उतनी ही योग्यतायें हैं। एक दृष्टि से चूंकि उस पर्याय के बाद कोई एक पर्याय होनी है, जो भी होनी है उसी प्रतिनियत पर्याय की योग्यता है। इस सिलसिले में यह बात मुख्यता से कही गई है कि किसी भी पर्याय परिणत पदार्थ में यदि वह विकृत है तो उसमें योग्यतायें नाना पड़ी हुई हैं। जिस प्रकार नवीन निमित्त का सन्निधान पाता है अपनी योग्यता के अनुसार उस प्रकार का परिणमन कर लेता है। तो यहाँ यह जिज्ञासा हुई कि इस बात को बहुत विस्तारपूर्वक कहा गया कि पदार्थों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है और उसके अनुरूप उपादान में अपनी अनेक योग्यताओं में से उस योग्यता रूप परिणमन होता है तो क्या किसी अभिप्राय से भी विवक्षित पर्याय में किसी एक पर्याय में एक ही विशेष योग्यता नहीं है? उत्तर में कहते हैं कि हाँ है और वह है उपाधि सापेक्ष विशेष पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अर्थात् ऐसी-ऐसी उपाधि का सन्निधान हो और उसमें विशेष पर्याय पर ही दृष्टि दी जा रही हो तो उस आशय में उस विवक्षित पर्याय में केवल एक होने वाली पर्याय रूप ही परिणमन की योग्यता है। देखिये

यह सब स्थिति समर्थ कारण में हुई। समर्थ कारण अगर है तो वहाँ के बाद एक पर्यायरूप ही परिणमेगा और उसकी ही योग्यता समझिये।

**समर्थ कारण का परिचय-** समर्थ कारण कहते हैं उसे कि जहाँ जितने कारण चाहिए कार्य के होने के लिए वह सब कारण उपस्थित हों तो उस स्थिति को समर्थ कारण कहते हैं। उपादान भी उस योग्यता वाला है और अनेक निमित्तों का सन्निधान भी बराबर है और साथ ही प्रतिबंधक कारण का अभाव है। जहाँ ये तीनों बातें जुट जाती हैं उस स्थिति को समर्थ कारण कहते हैं। जैसे अग्नि का कार्य जला देना है तो योग्य अग्नि भी हो और हवा चल रही हो, कोई ईंधन भी पास में पड़ा हो, सभी निमित्त जुट गए और उस अग्नि की शक्ति को रोकने वाली औषधि न हो, प्रतिबंधक मणि न हो तो अग्नि जलाने का कार्य करती है। इनमें से यदि एक बात की भी कमी रह जाये तो वह समर्थ कारण नहीं है। जैसे उपादान भी है, योग्य अग्नि भी पड़ी है और ईंधन न हो, वायु आदिक न हों, निमित्त सन्निधान न हो तो वह जला नहीं पाती। किसे जलायेगी? निमित्त कारण भी सब हो, प्रतिबंधक का अभाव भी हो, पर उपादान ही नहीं है अग्नि ही नहीं है तो जलाने का कार्य कहाँ होगा? उपादान भी है, निमित्त सन्निधान भी है, किन्तु प्रतिबंधक का अभाव नहीं है। जैसे अग्नि है, ईंधन है, हवा भी चल रही है और वहाँ रखी हो प्रतिबंधक मणि, ऐसी औषधि जिसके उपस्थित होने पर अग्नि का असर नहीं चलता, उस समय ज्वलन कार्य न होगा। तो जहाँ ये तीनों बातें हो जायें, योग्य उपादान, अनुकूल निमित्त सन्निधान और प्रतिबंधक का अभाव, तो उसे समर्थ कारण कहते हैं। ऐसा समर्थ कारण होने पर वहाँ यह कहा जायगा कि इसमें इस ही पर्याय को उत्पन्न करने की योग्यता है।

**समर्थ कारण से कार्य होने की बात निश्चित होने पर भी आत्महित के लिये स्वलक्ष्य रखने के उपदेश का कारण-** समर्थ कारण की बात सुन कर कुछ लोगों के चित्त में यह बात आ सकती है कि कार्य होने के लिए तीनों कारणों का बराबरी का साधन है। यदि इन तीनों में से कोई एक न हो तो कार्य नहीं बनता। तो जब तीनों का समुदाय कार्य करता है तब मोक्षमार्ग में चलने के लिये उपादान के लक्ष्य पर जोर क्यों दिया गया। आत्मा की उपासना करो, योग्यता पर दृष्टि दो, स्वभाव को लक्ष्य में लो, ऐसे ही उपदेश क्यों दिए जाते हैं? जब तीनों कारणों से कार्य होता है तो बाकी दो कारणों पर भी तो दृष्टि रखना चाहिए। याने जैसे उपादान को लक्ष्य में रखा जाता है इसी प्रकार निमित्त का भी ख्याल करना चाहिए। जैसे वज्रवृषभनाराच संहनन बिना मुक्ति नहीं, मनुष्य भव पाये बिना मुक्ति नहीं। तो इन संहननों का, इस मनुष्य भव का भी तो ध्यान रखना चाहिए। फिर मोक्षमार्ग में केवल स्व के लक्ष्य करने का ही उपदेश क्यों दिया जाता है? समाधान उसका यह है कि भाई ! जीव का परिणमन और अजीव का परिणमन सामान्यतया दोनों में एक ही अनुरूप परिणमन होता है और इसका विरोध न करके जीव की उत्कर्ष परिणति के लिए अर्थात् यह जीव मुक्त हो जाये, जन्म मरण के संकटों से छूट जायें, अपने स्वरूप में रमे, मुक्ति प्राप्त हो, इसके लिए पुरुषार्थ यह करना होता है कि अपने आपके विशुद्ध चैतन्य स्वरूप को लक्ष्य में लिये रहे। तो यदि किसी जीव की दृष्टि पर पदार्थ के

संग्रह में है, निमित्त के संग्रह में है, जैसे मनुष्य भव के बिना मोक्ष नहीं होता इसलिए मुझे मनुष्य भव मिले। मैं कब मनुष्य बनूँ? मनुष्य होने से मुक्ति हो जायगी। यों उसका मनुष्य भव पर ध्यान गया तो दृष्टि पर की ओर हुई ना। स्व तो चैतन्य मात्र आत्मा है और यह ध्यान कर रहा है भव का, शरीर का। तो पर दृष्टि होने पर मुक्ति की बात तो दूर रहो, स्वानुभूति तक भी नहीं हो सकती।

**पर-दृष्टि में आत्मविकास की असंभूति-** वज्रवृषभनाराच संहनन से मोक्ष होगा, इस कारण यह संहनन मिले। अब जिस चीज को चाहता है उस चीज का पूरा स्वरूप भी तो दृष्टि में रहेगा। क्या है? मजबूत हड्डियाँ होती हैं जहाँ उसे वज्रवृषभनाराच संहनन कहते हैं। वज्रमय शरीर। तो किसी पर की तो दृष्टि रही। ऐसी पर की दृष्टि होने पर स्वानुभव की भी परिणति नहीं हो पाती, फिर आत्म स्थिरता की परिणति हो ही कहाँ से? हर एक कार्य की विधि अलग-अलग है। अजीव पदार्थों में तो उपयोग नहीं होता कि मिलकरके किस स्थिति में किस ढंग की चीज बने? जो हो निमित्त, इसके अनुरूप योग्य उपादान में कार्य होता रहता है। यहाँ मुक्ति के लिए यद्यपि किन्हीं अंशों में कह सकते हैं कि वज्रवृषभनाराच संहनन निमित्त है, मनुष्य भव निमित्त है लेकिन इसकी दृष्टि रखें, तो ऐसा लक्ष्य करने वाले की मुक्ति नहीं होती। तो निर्णय की बात अलग है कि किन परिस्थितियों में रहने वाला पुरुष मोक्ष जाता है? पर स्वहित के लिए कर्तव्य है कि पर का लक्ष्य हटायें और स्व का लक्ष्य रहे। जितने भी क्लेश हैं वे सब पर के लक्ष्य से हैं। हम समझते हैं कि यह जीव मेरा है, यह जीव गैर है। तो जिन्हें मेरा समझा उनके लिए हम बड़ी सेवायें करते हैं और जिन्हें गौण समझा उनकी सेवा का ध्यान नहीं रहता। बस इस लगाव ने इस जीव को दुःखी कर रखा है। इन दोनों से निराला यह जीव है, यदि चित्त में यह बात जम जाये कि मेरा यह मैं मात्र सर्वस्व हूँ। मुझ से तो सभी निराले हैं, सभी एक समान हैं। यह दृष्टि में आये तो इसको आकुलता नहीं हो सकती। इस जीव पर जो विडम्बना छायी हुई है वह सब है पर के लगाव के कारण। तो पर का लगाव हितकारी नहीं है। हितकारी तो अपने अमूर्त ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र का ध्यान है। तो स्व की उपासना में जो वैभव अपना है वह सर्व प्राप्त होगा, और पर पदार्थ की उपासना में कुछ भी प्राप्त नहीं होता। केवल विकल्प मचा कर दुःखी ही रहता है। तो जिस पर्याय के होने की जो पद्धति है उस पद्धति से वह पर्याय बनती है।

**ज्ञान परिणमन विधि-** ज्ञान का कार्य जानना है इसका विशुद्ध कार्य जानन मात्र है, तो बिना राग के देखो इस ज्ञान में स्वयं सर्व पदार्थ प्रसिद्ध हो जाते हैं। कोई राग करता है और राग करते हुए किसी को जान रहा है तो वहाँ दो बातें हो रही हैं- राग की जगह राग चल रहे हैं, जानन की जगह जानन चल रहा है। रागी पुरुष भी जानता है, पर जानन का जिस गुण से सम्बंध है वहाँ उस गुण की दृष्टि में केवल स्वयं ही जानन चल रहा है। तो बिना राग के स्वयं सर्व पदार्थ प्रसिद्ध होते हैं। वहाँ पर लक्ष्य पर है भी नहीं। तो एक स्व का लक्ष्य बनाने में पर का ख्याल नहीं रहता। और ज्ञान का केवल जानन मात्र कार्य होता रहे उसमें भी पर का लक्ष्य नहीं रहता। स्व का लक्ष्य करना पर का लक्ष्य छोड़कर होता है तो किसी रूप में पर का लक्ष्य आया

स्वलक्ष्य करने के प्रयत्न में। पर जानन में तो किसी भी पर का लगाव नहीं रहता। ज्ञान में स्वयं ऐसा स्वभाव पड़ा है कि पदार्थ प्रसिद्ध होता है। उसके साथ-साथ चारित्रमोहनीय, दर्शनमोहनीय का उदय होने से यह जीव लगाव भी रखता जाता है।

**समर्थ कारण की स्थिति में मोक्षमार्ग होने पर भी ज्ञानी के स्वलक्ष्य के यत्न से सफलता की प्राप्ति-** यद्यपि समर्थ कारण में ये तीनों बातें आ गईं। योग्य उपादान हो, निमित्त नैमित्तिक सन्निधान हो और प्रतिबंधक कारण का अभाव हो तो यह पद्धति तो न मिटेगी। मुक्ति के लिए भी यही पद्धति चलेगी। जैसा योग्य उपादान निष्कषाय जीव है और उसके कर्मों का क्षय भी हो रहा है और प्रतिबंधक भी कोई नहीं है, मुक्ति उसकी होती है। यद्यपि ये तीनों बातें उस स्थल पर भी है लेकिन उस जीव को तो देखिये जो मुक्त हो रहा है। उसकी क्या स्थिति बन रही है? उसकी परिणति स्वध्यान की है, पर लगाव से हटने की है। तो यही तो विशेष योग्यता की बात है। यह विशेष योग्यता जो मोक्षमार्ग में लग रहा है जीव, तो मोक्षमार्ग में लगने के लिए स्वरूप परिणति की विशेषता है। जैसे उपादान योग्य होना चाहिए मुक्ति के लिए, तो किस योग्य कि जो अपने लक्ष्य की परिणति में बन रहा है, ऐसा ही जीव मोक्ष प्राप्त करेगा। अब उस समय निमित्त कारण हो रहा है, बन रहा है, कर्मों का क्षय हो रहा है तो ये सब बातें होती रहें किन्तु उन पर अगर जीव ने उपयोग किया तो उनकी विशेष योग्यता मिट गयी। अब संसार में रूलाने की योग्यता बन जाती है। तो जो पद्धति है कार्य होने की, उस पद्धति का अभाव नहीं है। उस पद्धति में यह बात भरी हुई है कि योग्य उपादान होना चाहिए। योग्य उपादान मुक्ति के लिए क्या है? कौन है? जो अपने आपके स्वरूप के लक्ष्य में रहता है। तो हित का कारण हुआ अपना लक्ष्य करना, पर के लक्ष्य से हटना, अपने उस ज्ञानानन्दमय स्वरूप में रमना।

**जन्म मरण के संकटों से पार होने का उपाय स्वरूपरमण-** जो भव्य प्राणी अंतःसाहस करके सर्व पदार्थों की आकुलताओं को त्याग कर अपने स्वरूप में रमता है वह जन्म मरण के संकटों से पार हो जाता है। रहना तो कुछ नहीं है, केवल एक हाथ मिलने की बात रह जाती है। सबसे निराला है यह जीव, तो ऐसा ही समझकर ऐसा ही अपना उपयोग क्यों न बनाये? धन्य है वे जीव जिनका ऐसा ध्यान रहता है। ध्यान ऐसा ही बना रहे तो उस जीव का अवश्यमेव कल्याण है। करने योग्य कार्य यही है, चाहे कभी से करें। जब तक नहीं कर रहे तब तक रूलना ही है। और इस गलती का यह भी परिणाम हो सकता है कि ऐसे विपरीत भाव में पहुंच जाये यह जीव कि यह अवसर आना उसे कठिन होगा। आज जो समागम पाया है उस पर ध्यान दिया जाये तो कितना योग्य अवसर पाया? हम आज मनुष्य हुए। पशु, पक्षी, कीट, स्थावरों से तुलना तो कीजिए। आखिर वे भी तो जीव हैं, हम भी जीव हैं। हम भी कभी वैसे हुए थे जैसे कि ये पशु, पक्षी आदि नजर आ रहे हैं। क्या है उनमें योग्यता? वे बोल सकते नहीं, अपने दिल की बात बता सकते नहीं, मनुष्यों के अधीन हैं। जहाँ बाँध दिया, बँधे रहे, जब खाना दिया खा लिया। कुछ वश नहीं चलता। यदि ऐसी स्थिति में होते तो वहाँ का ही विकल्प रहता। इस मनुष्य भव में जो बात पायी है जिसमें इतनी कल्पनायें चलती है वह वहाँ

नसीब नहीं होती। तो उस पर्याय में रहते हुए मेरे में यहाँ क्या रहा? आज इस पर्याय में हूँ, कुछ समय के लिए हूँ। जो समक्ष हैं वे सब मेरे लिए कुछ नहीं है। अरे आज यहाँ हूँ और मरण करके कहीं चले जायेंगे।

**समाधिमरण का महत्त्व-** भैया ! मरण तो निश्चित है। जो जन्मा है सो मरेगा, किन्तु जो अपने आपके स्वरूप की दृष्टि रखता हुआ मरण करेगा उसका तो सुधार हो जायगा और किसी में मोह राग स्नेह रखता हुआ, विकल्प करता हुआ, दुःखी होता हुआ अगर मरेगा तो उसको आगे खोंटे जन्म मिलेंगे। तो मरना जब सभी को है तो यह भी तो विचार करें कि किस ढंग से हम मरे तो हमारा कल्याण होगा? किस ढंग से हम मरें तो हम संसार में दुःख भोगते रहेंगे? इसका भी तो कुछ निर्णय करियेगा। और जिस मरण पर हमारा भविष्य आधारित है उस मरण का कितना महत्त्व है? ठीक-ठीक विचारपूर्ण स्थिति में मरण करने का कितना बड़ा भारी महत्त्व है? जन्म का भी किसी का महत्त्व है तो इसी कारण है कि ऐसा महत्त्व वाला मरण पा सके। जीना उसका ही सफल है, जन्म उसका ही कुछ फायदेमन्द है कि जो समाधिपूर्वक मरण कर सके। जन्म की सार्थकता समाधि मरण से है। समाधिमरण होवे तो समझो कि जिन्दगी सफल है। और यदि यह समाधिमरण न पा सके तो समझो कि जिन्दगी सब बेकार है। समाधिमरण के आधार पर हमारे भविष्य का उत्थान निर्भर है। देखिये- दो मिनट में शरीर को छोड़कर यह जीव चला जायगा, जब कभी भी समय आयगा तो अब उतने समय में अपने आपको सम्हाल लिया तो भविष्य का सारा काल सम्हाल लिया, और उतने समय को अगर अपने आपकी सम्हाल न कर पाये तो समय आगे निकल जायगा। घटना घट जायगी, किन्तु उसका खोटा फल चिरकाल तक भोगना पड़ेगा। पुरुषार्थ होना चाहिए ऐसा कि हमारा समाधिमरण बने। और समाधिमरण बने इसके लिए हमें प्रयत्न करना है अभी से। ज्ञान साधना में अधिक रहें, ज्ञान पर उपयोग अधिक लगायें, धर्मात्मा पुरुषों के सत्संग में रहें, कुछ संयम तपश्चरण का भी आदर करें तो इन प्रयत्नों से भी हम वह समय पा लेंगे कि जहाँ हमारी समाधि बन सकेगी। समता परिणाम हो। समता परिणाम का मूल उपाय यह है कि ऐसी भावना बनायें कि मैं अकिञ्चन हूँ, केवल चैतन्य स्वरूप मात्र हूँ। किसी भी चेतन अथवा अचेतन पदार्थ से मेरा कुछ सम्बंध नहीं है। सारा वैभव भी छूट रहा है, बिगड़ रहा है तो वह सब भी बिगड़कर मेरा कुछ नुकसान न कर सकेगा। और मेरा परिणाम यदि पर के लगाव में पड़ रहा है तो चाहे ये बाहरी बातें मन के अनुकूल मिलती जावें। धन वैभव, लौकिक इज्जत प्रतिष्ठा आदि मनचाहे मिलते जावें, खानपान भी मन चाहा मिलता जावें, ये सब कुछ मिल जाने पर भी यदि सम्यक्त्व नहीं जगा, समाधिमरण की प्रेरणा नहीं जगी तो ये सब व्यर्थ हो जायेंगे। तो अब समझिये कि हम आपने जो आज समागम पाया है वह कितना महत्त्वपूर्ण है, उसका फायदा यही है कि ऐसा उपाय बना लें कि हमारा समाधिमरण हो, पंडितमरण हो, समता में मरण हो। मेरी दृष्टि में कोई बाहरी पदार्थ कुछ समय को न रहे, ऐसे उपादान में ऐसी योग्यता बसी हुई होती है कि वह आगे शान्त हो सकेगा। तो स्वलक्ष्य से जो च्युत है वह मोक्ष में नहीं लग पाता। मोक्षमार्ग के निमित्त यद्यपि हैं लेकिन किसी भी परपदार्थ पर दृष्टि रखने से मुक्ति का मार्ग नहीं



बन पाता। इस कारण मुक्ति मार्ग में चलने का कार्य बनाने के लिए स्व का लक्ष्य करने की आवश्यकता है और निमित्त आदिक पर द्रव्यों से लक्ष्य हटाने की आवश्यकता है।

**स्वलक्ष्य में लगना व स्वलक्ष्य रहना इन दो स्थितियों का विश्लेषण-** प्रसंग यह चल रहा है कि मुक्ति के मार्ग में यद्यपि अनेक साधन ही हुआ करते हैं तिस पर भी किसी भी बाह्य साधन पर लक्ष्य हो तो मोक्षमार्ग नहीं चलता। इसलिए कर्तव्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ का लक्ष्य छोड़कर एक निज स्व का लक्ष्य करना चाहिए। ऐसी बात सुन कर एक जिज्ञासु ने यह जिज्ञासा की कि जैसे पर पदार्थ का लक्ष्य करना कषाय सहित उपयोग का काम है, ऐसे ही परलक्ष्य से हटकर स्वलक्ष्य में लगना यह भी तो कषाय का काम है। एक तीव्र कषाय हुई कि पर पदार्थ में लक्ष्य में आया और यह मंदकषाय में हुआ कि पर का लक्ष्य छोड़कर स्व के लक्ष्य में प्रयत्न किया, तब स्वलक्ष्य भी हित का कारण कैसे हुआ? जैसे परलक्ष्य करना कषाय का कार्य है इसी प्रकार स्वलक्ष्य में लगना भी तो कषाय का कार्य है। मोक्षमार्ग में और भी अच्छे कार्यों में लगने की बात क्या रुचि बिना होती है? रुचि तो चाहिए और रुचि करना यह कषाय का अंश है। फिर रुचि के कारण स्वलक्ष्य में लगा तो ऐसे स्वलक्ष्य में लगना कैसे हित का कारण बनेगा? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि भाई स्वलक्ष्य करना तो अवश्य पर लक्ष्य में लगकर स्वलक्ष्य करने को कहते हैं। जैसे-उपदेश हुआ कि भाई स्वलक्ष्य में लगे, तो अर्थ क्या लगा कि पर लक्ष्य से हटकर स्व आत्मा के लक्ष्य में आओ और इस तरह कोई करे कि पर पदार्थ के लक्ष्य से हटकर स्व आत्मा के लक्ष्य में लगता है तो यह मंदकषाय मूलक कार्य है।

**अब समाधान में आइये, देखिये-** इतनी बात तो अवश्य है कि जब किसी जीव की कषाय मंद हो तब ही तो वह पर पदार्थ के लक्ष्य से हटकर निज के लक्ष्य में आयेगा। तो ऐसे स्वलक्ष्य में लगने का प्रयत्न मंद कषायवश हुआ है, लेकिन उसके बाद स्वलक्ष्य में रह जाना, स्वलक्ष्य ही रह जाना यह तो कषाय का कार्य नहीं है, पर से हटकर स्व में लगने के समय जो एक से हटकर एक में लगा यहाँ तक तो कषाय की प्रेरणा है। मंदकषाय की प्रेरणा सही, लेकिन स्वलक्ष्य में लगने के बाद जो उसका स्वलक्ष्य रह जाता है, एक निर्विकल्प ज्ञान स्थिति रह जाती है या स्व ही दृष्टि में रहता है यह कार्य तो कषाय का कार्य नहीं है। यह तो सहज परिणति का विकास है। स्वलक्ष्य होने का तात्पर्य क्या है इसको भी समझ लीजिए। स्वलक्ष्य होने का मतलब उस अवस्था से है जहाँ राग द्वेष की परिणति न हो। पर से हटकर स्वलक्ष्य में लगने की प्रवृत्ति तक तो राग की बात थी और उस पर से प्रयोजन न था तो उससे उपेक्षा की बात थी। पर जब स्वलक्ष्य रह गया तब परलक्ष्य से हटने का काम तो नहीं कर रहा तो ऐसा जो स्वलक्ष्य रह जाना मात्र है उनके राग द्वेष की परिणति नहीं है। राग द्वेष की परिणति न होने में ही तो स्व का अनुभव है। स्व के अनुभव में भी मतलब



क्या है कि स्व मायने सामान्य आत्मा, चैतन्य मात्र अंतस्तत्त्व वह है स्व। जो विशुद्ध है, निरपेक्ष है, स्वयं है, वह है अंतस्तत्त्व । सो अंतस्तत्त्व का या सामान्य का लक्ष्य होना उस समय रह ही जाता है जब सब ओर के लक्ष्य का अभाव हुआ।

जीव के श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र गुणों की निरन्तर कार्यशीलता में स्वलक्ष्य रहने का सुगम अवसर- जीव चैतन्य स्वरूप है, और इसका कार्य कुछ न कुछ श्रद्धान रहे, ज्ञान रहे और कहीं रमा रहे, यह कार्य कहीं भी रुकता नहीं। इसी को कहते है श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र का काम। जब यहाँ संसार में लग रहा तो परवस्तु को निज रूप मानने का श्रद्धान चल रहा और भेदाभेद, स्वरूप, कारण आदि का यथार्थ बोध न होकर कुछ से कुछ रूप में पदार्थ का बोध करना यह ज्ञान का काम हो रहा और ऐसी स्थिति में इसको जो इष्ट जंचा, उसके विकल्प में रम रहा, यह चारित्र का काम हो रहा। यही जीव जब सम्यक्त्व पाता है, रत्नत्रय विशुद्ध होता है तब उसका श्रद्धान स्व को स्वरूप से प्रतीत करने का रहता है। और जैसा जो पदार्थ है अपने स्वरूप में परिपूर्ण, पर से विविक्त उस रूप से पदार्थ का ज्ञान करता है। और अब चूंकि पर का प्रभाव नहीं रहा, यथार्थ प्रकाश जग गया तब स्व में रमने का काम करता है। प्रत्येक परिस्थिति में जीव के श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र का कार्य होता ही रहता है। तो इससे भी यह तात्पर्य निकला कि जब जीव परपदार्थ की ओर से लक्ष्य नहीं रख रहा, पर के लगाव से हट गया है, तो पर से हटने की स्थिति में वह स्व में रह गया, स्वलक्ष्य रह गया, यह बात उसके हो ही जाती है। इस जीव के विशुद्ध काम सब सुगम हैं। उनमें क्लेश नहीं और सत्य आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है।

आत्मसमृद्धि की टंकोत्कीर्णवत् निश्चलता- देखिये भैया ! क्लेश, आकुलता, अधीरता, घबराहट ये सब बन कर किये जा रहे हैं। एक ज्ञान प्रकाश लायें और पर से दृष्टि हटायें, अपने आप शुद्ध ज्ञानानन्द का विकास होता है, क्योंकि यह तो अपना स्वरूप ही है और अपने स्वरूप के विकास के लिए कुछ किया नहीं जाता, केवल पर से हटने का काम होता है। यहाँ जो स्वरूप है वह निश्चल है, इसी बात को टंकोत्कीर्ण दृष्टान्त से भी बताया गया है। टंकोत्कीर्णवत् निश्चल, इस दृष्टान्त का मुख्य भाव तो यह लिया जा रहा है कि जैसे टाँकी से उकेरी गई प्रतिमा, पाषाण प्रतिबिम्ब निश्चल है, उसका हाथ उठा कर सरकाकर कहीं रख दिया जाये ऐसा नहीं हो सकता। उसका कोई भी अंग चलायमान नहीं किया जा सकता। कदाचित् पूरी मूर्ति उठाकर कोई ले जाये तो ले जाये, पर उस मूर्ति में कोई अंग चलित हो जाये सो नहीं हो सकता। तो जैसे टाँकी से उकेरी गई प्रतिमा निश्चल है इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप भी अपने आप में निश्चल है। तभी तो देखिये-निगोद जैसी अवस्थाओं में यह जीव गया। जहाँ ज्ञान की ओर से देखा जाये तो जड़ सा लग रहा। क्या ज्ञान है? लेकिन वहाँ भी स्वभाव नहीं मिटा, ज्ञान नहीं मिटा, स्वरूप निश्चल ही रहा और उसका प्रमाण यह है वहाँ से निकल कर आज मनुष्य पर्याय में आये हैं तो हम ही तो हैं जो पहिले थे और आज विकास हो रहा तो स्वरूप ऐसा निश्चल है।

**आत्मसमृद्धि की टंकोत्कीर्णवत् सहज सिद्धता-** अब इसी टंकोत्कीर्णवत् दृष्टान्त में एक नई बात देखिये जो कि हमें कुछ सीख देती है अपनी प्रगति के लिए कि जैसे टाँकी से उकेरी गई प्रतिमा किसी अन्य पदार्थ से नहीं बनायी गई। उसमें कुछ भी अन्य पदार्थ जोड़ा नहीं गया, और इतना ही नहीं, जो मूर्ति बनी उसमें भी कुछ किया नहीं गया, किन्तु कारीगर ने अगल बगल के पाषाण खण्ड हटाये, हटाने-हटाने का तो काम किया, पर वहाँ लगाने का कुछ काम नहीं किया और वहाँ वह आवरण, वह पाषाण खण्ड हट-हटकर इस मूर्ति में वह मूल चीज जो थी वह प्रकट हो गई। ऐसे ही आत्मा के ज्ञान और आनन्द के विकास के लिए और कुछ नहीं करना है। कोई बाहर से चीज नहीं जोड़ना है। किसी बाहर से कोई चीज ग्रहण करके नहीं रखना, किन्तु जो विषय कषाय के परिणाम पाषाण खण्ड आवरण इस पर लगे हैं उनको हटाना है। वह विभाव हट गया कि यह जो कुछ है वह अपने आप प्रकट हो गया। लेकिन व्यवहार में अनेक चीजों के प्रसंग में आकर भी ऐसा ही है। चौकी पर यदि बीट गिरा, कूड़ा जम गया तो उसको साफ करने वाला क्या करता है? कोई काठ में नई चीज लाता है क्या? पानी से धो-धोकर मल अलग करता है। जो दूसरी चीज है उसको दूर करता है। वह दूसरी चीज सब दूर हट जाये तो वहाँ जो कुछ है स्वयं, सो वह अपने आप निकल आता है। तो ऐसे ही अपने आप में जो अपना स्वरूप है, विकास है, ज्ञानानन्द रूप है उसको उत्पन्न करने के लिए बाहर से कुछ नहीं लाना है, केवल उन विषयकषाय विभावों को दूर करना है। वे दूर होंगे किस उपाय से? भेद विज्ञान की टाँकी, भेद विज्ञान की ही हथौड़ी, भेद विज्ञान का ही कारीगर हो, उसके द्वारा यह काम अपने आप हो जायेगा कि पर का सम्पर्क मिटेगा और निज स्व जैसा सहज है वह अपने आप विकसित हो जायेगा। तो यह स्वलक्ष्य रहना, अपना कल्याण कर लेना, जन्म मरण से छूटने का उपाय बना लेना यह सब सुगम है, साध्य है, किया जा सकता है, करने की ओर चले कोई तो। बस गाड़ी यहीं अटकी रहती है कि इस आत्म कल्याण के करने के लिए हम कटिबद्ध नहीं हो पाते। इतनी बात अगर हो जाये तो सारी बात आपको सुगम दिखेगी तो स्व ही अपनी दृष्टि में रहता और ज्ञान सामान्यात्मक अंतस्तत्त्व का उपयोग रहता, ये सब तो कल्याण रूप हैं।

**व्रत, तप आदि की व्यवहारधर्मरूपता -** यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि तप, व्रत आदिक स्व कल्याण हैं या नहीं? ये स्वयं कल्याणरूप हैं, कल्याण के कारण हैं अथवा नहीं, यह प्रश्न उत्पन्न होना प्राकृतिक है, क्योंकि अन्य कार्यों के उपयोग में लगा हुआ यह प्राणी जब कुछ धर्म की ओर चलने को होता है तो व्रत, तप, दर्शन, सत्संग ये सब साधन हुआ ही करते हैं और उपदेश भी ऐसा ही दिया जाता, संयम करो, तप करो, व्रत करो, प्रभु दर्शन करो, तो ये सब भी अपने कल्याण हैं अथवा नहीं? इस प्रश्न पर अब विचार कीजिए। बाहरी जो तप, व्रत आदिक हैं वे उपचार से कल्याण के साधक माने गए हैं। इसका कारण यह है कि तप, व्रत, संयम आदिक बातों में लगा हुआ प्राणी निश्चय तत्त्व को पा लेता है। पाता है अपने ही सहज विकास द्वारा, मगर पात्रता उसमें होती है जो कुछ संयमी है, तपस्वी है। इसको अगर संक्षिप्त शब्दों में कहें, तो जो अपनी ओर

लगा हुआ है और कष्ट सहिष्णु है। तपस्वी अपनी जिन्दगी में अनुभूति करने के लिए अगर कष्ट सहिष्णुता से, समता से कष्ट सह लेवे, ऐसा अगर ध्यान में रखे तो कोई प्रतिकूल बात न होगी, क्योंकि जो जरा-जरा सी बातों में कष्ट का अनुभव करता है उसमें यह पात्रता नहीं जगती है कि वह ऐसा विशुद्ध सामान्य अंतस्तत्त्व का अनुभव कर सके। अपने राग के प्रतिकूल, इच्छा के प्रतिकूल जरा सी बात हुई उसी में कष्ट माना। ऐसे कष्ट से घबड़ाने वाले प्राणियों में स्व के अनुभव करने जैसे बहुत बड़े पुरुषार्थ की बात आने की पात्रता नहीं है। इस कारण साधु पुरुषों को कष्टसहिष्णु होना चाहिए और कष्ट सहिष्णुता में ही ये तपश्चरण हो पाते हैं। तो जो इन बाह्य तप, व्रत आदिक में लगा हुआ है, उसका उपयोग विषय कषायों में तो नहीं है, तब उसमें पात्रता है ऐसी कि वह सामान्य अंतस्तत्त्व का अनुभव कर सकता है।

**धर्म यात्रा के साधक होने से व्रतादि की व्यवहार से धर्मरूपता-** उक्त वृत्त बात सुनकर चित्त में ऐसा तर्क उठना एक प्रासंगिक है कि तब क्या तप, व्रत से धर्म नहीं होता? क्या तप, व्रत आदि धर्म नहीं है? तप, व्रत को उपचार से साधक कहने के मायने यह हुआ कि यह धर्म नहीं है, लेकिन बड़े- बड़े धर्मात्मा जन भी ऐसा ही करते हुए देखे जा रहे हैं। तब धर्म की बात बताओ, क्या ये तपश्चरण आदिक धर्म नहीं है? इसका भी शान्तिपूर्वक समाधान ढूंढिये- और इस समाधान के लिए यह जानना आवश्यक है कि धर्म नाम है किसका? धर्म का यथार्थ स्वरूप ज्ञान में आने पर ये सब समस्यायें सुलझ जायेगी। तब देखिये धर्म नाम है आत्मा की मोह क्षोभ रहित परिणति का। अब व्रत, तप की बात देखिये- जिसके सम्बंध में यह प्रश्न किया जा रहा है। बाह्य तप, व्रत क्या हैं? तो ये हैं मन, वचन की चेष्टायें। लेकिन ये सब हैं शुभ रूप। और कुछ मंद कषाय की ओर रहने की बात। तब ये भाव पुण्य के निमित्त हैं। मन, वचन, काय की सभी चेष्टायें साक्षात् धर्म नहीं हैं। वे पुण्य के कारण हैं और ऐसे वर्णन में जितने अंश में मोह क्षोभ रहित परिणति चल रही है वह धर्म है। तो ये मन, वचन, काय की सभी चेष्टायें जीव को पात्र तो बनाये रखती हैं कि वह जीव जब स्व के अनुभव के लिए पुरुषार्थ करे तो हो सकेगा। यह बात कैसे समझी कि इन सभी चेष्टाओं के खिलाफ अशुभ चेष्टा में कोई जीव हो तो वहाँ समझ में आयेगा कि उसमें पात्रता नहीं रहती। जो इन्द्रिय के विषय में या लोकेषणा में किसी ओर विकल्प रमाये हुए है तो उसको स्व की सुध ही नहीं है। स्व का अनुभव क्या कर सकेगा? तो स्व का अनुभव करना, मोह क्षोभ रहित परिणति का होना यह तो है साक्षात् धर्म और इस कार्य के लिए पात्रता बनाये रखने वाले जो व्रत, तप आदिक परिणतियां हैं वे हैं उस धर्म की पात्रता में सहायक, अतः इसको व्यवहार से धर्म कहते हैं।

**धर्म और धर्मपालन का विश्लेषण-** धर्म शब्द की व्युत्पत्ति है यह 'धते इति धर्मः' अथवा 'धरति इति धर्मः' और इसके विशेष विवरण में चले तो अर्थ है- पदार्थः आत्मनि यं स्वभावं धत्ते स धर्मः। पदार्थ अपने आप में जिस स्वभाव को धारण करता है, जिस स्वभाव को धरे हुए है उस स्वभाव का नाम धर्म है, उस धर्म को करना नहीं है। वह तो स्वभाव है, परिपूर्ण है, सहज सिद्ध है, उस धर्म की दृष्टि करना है। तो धर्म की दृष्टि

करने को धर्म कहते हैं। हमने धर्म पालन किया, इसका अर्थ यह है कि आत्मा का जो स्वभाव है, धर्म है उसकी इसने दृष्टि की। अब धर्म की दृष्टि करना साक्षात् धर्म पालन है। फिर अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र अंतस्तत्त्व का दर्शन करना, आश्रय करना, उपयोग रखना सो धर्म है, धर्म का पालन है। अब इस धर्म पालन में जो जीव लग रहे हैं वे निरन्तर इस धर्म पालन में नहीं लग पाते। तो जब नहीं लग पाते उस समय वे क्या कार्य करते हैं? किसी विषय कषाय में, युद्ध में लग जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति होती है व्रत, तप आचरण रूपा। तो ज्ञानी संत की जो बाह्य प्रवृत्ति है अथवा उस ज्ञानस्वरूप के उपयोग में न लगने की स्थिति में जो बाह्य आचरण बनते हैं वे भी कर्तव्य तो हैं, करने ही तो हैं ना, करना चाहिए। यदि व्रत, तप आदिक न करेंगे और स्व के अनुभव में भी नहीं लगे है तो उनकी फिर क्या दशा होगी? तो ये व्रत, तप आचरण प्रवृत्ति करना है और इसके किए जाने का इसीलिए उपदेश है, अतएव ये व्रत, तप आदिक उस धर्म पालन में बाह्य साधन होने से अर्थात् धर्म पालन की पात्रता बनाये रखने से इनको उपचार से धर्म कहा है, और जिनकी दृष्टि ही नहीं, लक्ष्य ही नहीं कि हमको उन्नति के मार्ग में करना क्या है, किन्तु कुल परम्परा से अथवा अपनी समाज के पुरुषों की देखादेखी जो कार्य किए जाते हैं उनमें धर्म का सम्बंध तो नहीं, मगर ऐसे लोग भी कभी सत्संग पायें तो उनका भाव बदल सकता है। अतएव ज्ञान न होने पर भी, लक्ष्य न होने पर भी ज्ञानी पुरुष जो काम करते आये थे लक्ष्य रखते हुए, वे ही काम इस लक्ष्यहीन के भी हो रहे हों तो पहिचान कौन करे? वह भी व्यवहार में धर्म कहलाने लगता है। क्रिया तो बाहर में एक है ना भीतर के निर्णय से उनमें धर्म और अधर्म का निर्णय हो जायेगा। तो प्रसंग में यह बात चल रही है कि धर्म पालन तो ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र निज अंतस्तत्त्व का लक्ष्य रह जाना है।

भूतार्थनय से जीवादि तत्त्वों के अधिगम की निश्चय सम्यक्त्व हेतुरूपता- धर्म का स्वरूप यहाँ परमार्थ दृष्टि से कहा जा रहा है। धर्म नाम है स्वभाव का। आत्म धर्म हुआ आत्म स्वभाव। आत्म स्वभाव की दृष्टि करना, उपयोग में लेना, आत्म स्वभाव में रमना यही है धर्म पालन और अन्य काम व्रत, तप आदिक ये सब इस जीव की ऐसी पात्रता बनाये रखते हैं कि जब धर्म पालन करे तो कर लेगा और अंशरूप से तब भी कर रहा है, इस कारण उन्हें व्यवहार धर्म कहते हैं। इस बात को सुनकर एक जिज्ञासा होती है कि केवल आत्म स्वभाव से ही सम्बंध रखा धर्मपालन का, तो क्या जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन 7 तत्त्वों का अथवा पुण्य, पाप मिलकर इन 9 पदार्थों का श्रद्धान करना धर्म है-ऐसा जो कहा गया, क्या वह भी सत्य नहीं है? इसका उत्तर सुनो। भूतार्थनय से जाने गए ये 9 पदार्थ निश्चय सम्यक्त्व के कारण हैं। सम्यक्त्व परिणति तो अखण्ड है। उसमें इतने विकल्प कहा होंगे कि जीव, अजीव आदिक पदार्थ का श्रद्धान करना, उनकी अलग-अलग प्रतीति रखना ऐसा भेदन सम्यक्त्व में कहाँ होता है? सम्यक्त्व में तो एक समीचीनता है। यह समस्त सहज आत्मतत्त्व जैसा है, वह उसके अनुभव में और प्रतीति में बना हुआ है, इस कारण यह जीवादिक का श्रद्धान जो कि भूतार्थ से जाने गये के ढंग से हुआ, वह निश्चय सम्यक्त्व का कारण बनता है।

विकल्प कोई भी धर्म रूप नहीं होता। पर कोई विकल्प धर्म का कारण बनता है अर्थात् उन विकल्पों से गुजरने के बाद धर्म की मंजिल मिल पाती है। तो वह विकल्प भी धर्म के समीप है अतएव धर्म है। जैसे दूसरी सीढ़ी पर चढ़ना पहली सीढ़ी गुजरने के बिना नहीं होता, इस कारण पहली सीढ़ी पर चढ़ना दूसरी सीढ़ी पर आने का कारण है। लेकिन पहली सीढ़ी पर चढ़ना ही दूसरी सीढ़ी का प्रयोग न कहलायेगा। तो भूतार्थ से जाने गए 9 पदार्थों का श्रद्धान या जानना यह निश्चय सम्यक्त्व का कारण है, क्योंकि जब भूतार्थ से जाने जायेंगे ये 9 पदार्थ तो वहाँ एक शुद्ध आत्मतत्त्व ही प्रतिभासमान रहेगा।

**भूतार्थ पद्धति का प्रकाश व प्रभाव-** भूतार्थ से जानने में सीधा अर्थ यों लगा लें कि किसी एक में उस एक को ही निरखना, यह भूतार्थ पद्धति कहलाती है। जब हम जीव को भूतार्थदृष्टि से देखेंगे तो पशु, पक्षी, मनुष्य ये जीव नहीं हैं। और कषाय, विकल्प, विचार, इज्जत आदिक जो भी भावनायें हैं वे जीव नहीं हैं, और न कोई आन्तरिक तरंग जीव हैं, किन्तु जीव है एक टंकोत्कीर्णवत् निश्चल चैतन्य स्वरूप। जब भूतार्थ से जाना जीव ने तो कहाँ पहुंचा? सारे भव, सारी पर्यायें, सारी बातें छूटकर एक शुद्ध चैतन्य स्वरूप में आया। तो जब भूतार्थ से जाना जाता है इस तत्त्व को, तो वहाँ केवल आत्मतत्त्व ही प्रतिभास में रहता है। यों जीव तत्त्व को जाना, और उसका प्रभाव समझा। अब अजीव को भूतार्थ से जानें, तब क्या प्रभाव पड़ता है? इसे परखिये- भूतार्थ से जाना इस पुद्गल के बारे में तो भूतार्थ से जानने पर प्रथम उसकी दृष्टि में स्कंध या जाति भी न रहेगी। यह कार्माण जाति का द्रव्य है, यह आहार वर्गणा का द्रव्य है, यह जाति भेद भी भूतार्थ में नहीं पड़ा हुआ है, क्योंकि भूतार्थ जानता है केवल को और यह बात है सहेतुका। ये जातियाँ भी बदल सकती है पर लगेगा लम्बा समय। तो जो बदल सके, जो शाश्वत नहीं रहता, जो एक रूप नहीं है, जिसमें न्यूनाधिकता चलती हो वह भूतार्थदृष्टि में पदार्थ नहीं है। जब इन स्कंधों को निरखते थे तब यह समझ में आया शुद्ध अणुमात्र, जिसमें गुण परिणति का भी भेद नहीं डाला। ऐसा कोई साधक यह अजीव पदार्थ जाना गया भूतार्थ से, अब इसका असर क्या होगा कि जब भूतार्थ से इसे जाना तो इसका जानना न जानना जैसा हुआ, क्योंकि विकल्प तो कुछ मचाया नहीं। बाह्य वस्तु का विकल्प कर रखा नहीं, एक जानन चल गया उस ओर से, तो वहाँ टिका नहीं। प्रभाव यह होगा कि बहुत ही शीघ्र यह अपने शुद्ध आत्म तत्त्व के प्रतिभास में आ जायेगा।

**भूतार्थ पद्धति से आस्रव के जानने का प्रभाव-** जब आस्रव को जाना कृतार्थ पद्धति से तो आस्रव चूँकि संयोगी पदार्थ है और आस्रव दोनों जगह हुआ करता है- जीव में और पुद्गल कर्मों में भी। तो जब भूतार्थ से आस्रव को जानने के लिए चलेंगे तो किसी एक को जाना जायेगा। इस प्रकार भूतार्थ पद्धति बन जायेगी। तो जब एक जीवास्रव को जानने चले तो भूतार्थ पद्धति से यह देखा कि जीवास्रव- ये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय के परिणाम यही तो आस्रव कहलाता है। यह जीव से प्रकट हुआ है, जीव में प्रकट हुआ है, जीव की योग्यता से आया है, जीव के लिए आया है। सब कुछ वहाँ जीव में नजर आ रहा है। और ऐसा नजर आने के बाद

जब वहाँ अंतरंग में दो भाग हो गए एक तो वह स्रोत और एक वह भरा हुआ तत्त्व। स्रोत तो है वह जीव सामान्य चैतन्य मात्र, परिपूर्ण भाव और वह भरा हुआ तत्त्व है जीवास्रव। यह यहाँ से निकला है। आस्रव शब्द का अर्थ है आना। मगर आना आगमन आदिक शब्दों से नहीं कहा है। उसमें आस्रव का भाव न आयेगा। आस्रव का अर्थ है- आ मायने चारों ओर से स्रव मायने चू जाना। 'आ समन्तात् स्रवणं आस्रवः।' आगमन कई तरह से होता है- कदम बढ़कर आना, चलकर आना और एक चूकर आना। जो चारों ओर से पसेवता हुआ, चूता हुआ है उसे आस्रव कहते हैं। तो जीव में जब आस्रव होता है तो यह इसी ढंग से होता है। कहीं बाहर से चलकर आस्रव आया नहीं। कहीं कदम बढ़ा कर आया नहीं, किन्तु जीव के समस्त प्रदेशों में वही से पसेवता, चूता हुआ भाव बना। तो ऐसा जो वह जीवास्रव है वह किस स्रोत से आया है? भूतार्थ से जानने पर उस स्रोत की मुख्यता हो जायेगी। उससे आस्रव अंश विलीन हो जायेंगे, फिर वहाँ प्रतिभास में रहा क्या? वह शुद्ध आत्म तत्त्व। जब भूतार्थ से कर्मों में भी आस्रव जाना तो वहाँ एक वह ढंग चलेगा और रहेगा कर्मों के आस्रव का स्रोत नजर में। वह स्रोत सूक्ष्म है, पर है, भिन्न है, वहाँ टिक नहीं सकता। सो इस शुद्धभाव क्रिया के प्रसंग में वहाँ भी आखिर शुद्ध आत्म तत्त्व प्रतिभास में रहेगा।

**भूतार्थ पद्धति से संवरादि के अवगम का प्रभाव-** भूतार्थ पद्धति से बंध संवर आदि के अवगम का भी हितमय प्रभाव है। संवर में स्रोत का जानना और भी सुगम है, क्योंकि संवर भाव शुद्ध स्वभाव के अनुरूप भाव है, इसलिए वहाँ स्रोत जल्दी ग्रहण में आयेगा। तो वहाँ भी यह शुद्ध आत्मतत्त्व प्रतिभास में रहेगा। इसी प्रकार निर्जरा और मोक्ष ये सब भूतार्थ से जब जाने जाते हैं तो इसका प्रभाव यह होता है कि वहाँ शुद्ध आत्मतत्त्व प्रतिभासमान रहता है। तो अब निरख लीजिए कि जीवादिक तत्त्वों का भूतार्थ पद्धति से जानने का प्रभाव क्या होता है? जहाँ शुद्ध आत्म तत्त्व प्रतिभासमान रहा, बस वही तो सम्यक्त्व है। तो उस निश्चय सम्यक्त्व का कारण होने से यह सम्यक्त्व है। इन तत्त्वों का श्रद्धान ठीक है और करना चाहिए, पर परमार्थ स्वरूप इसके बीच भी समझ लेना आवश्यक है। भूतार्थ से जानने पर इन 9 तत्त्वों का भी लक्ष्य छूट जाता है और एक शुद्ध आत्मतत्त्व पर लक्ष्य रह जाता है। इस कारण यह सिद्ध है कि पर से व रागादिक भावों से रहित एक अपने चतुष्टय में ही स्थित जो सहज भाव है, अंतस्तत्त्व है, चिन्मात्र है तद्रूप एकता का अनुभवना सो धर्म है।

**धर्म रुचि का ऐश्वर्य-** अब जान लीजिए कि धर्म कितना सुगम स्वाधीन सूक्ष्म है, किन्तु विकल्प जाल करने वाले पुरुषों को अति कठिन है। जिस धर्म के प्रसाद से अनगिनते भवों के कर्म भी एक साथ खिर जाते हैं उस धर्म की ओर दृष्टि करना है। बाकी तो धर्म के नाम पर कोई कुछ करे तो वह पर्याय में ही बुद्धि बना रहा है। जिसको तन से, मन से, धन से इतना लगाव लगा है कि वहाँ से विविक्तता हृदय में स्फुरित नहीं हो पाती है, तो इस रंग में रंगा हुआ पुरुष इस धर्म का पालन क्या करेगा? जिसकी इस धर्म के स्वरूप पर दृष्टि पहुँचती है, तो इस धर्म के उपदेशक गुरुजनों पर, इस धर्म के प्रतिपादक शास्त्रों पर, इस धर्म के मूल स्रोत अरहंत देव पर जिनेन्द्र प्रभु पर प्रशस्त प्रकृष्ट भावना जगती है और फिर वे ज्ञानी इतना उन पर

न्यौछावर होते हैं कि उसके लिए तन, मन, धन, वचन सारा वैभव न कुछ चीज है। ऐसा है यह धर्म। अपने आत्मा में, अपने आप अपनी ही परिणति से प्राप्त किया जा सकता है।

**बंधपर्याय में जीव और पुद्गल की एकता का शंकाकार द्वारा प्रतिपादन-** इस प्रसंग में यह एक जिज्ञासा बन सकती है कि यहाँ तो यह समझ में आ रहा कि आत्मा और पुद्गल दोनों की बंध पर्याय में एकता है। जब जीव और पुद्गल आज इस बंध दशा में पड़े हुए हैं, शरीर में जीव बंधा, जीव में शरीर। शरीर चलेगा तो जीव को भी चलना पड़ेगा। जीव चलेगा तो शरीर को भी चलना पड़ेगा। हाँ, एक मरण काल ऐसा है कि जीव तो जायेगा और शरीर न जायेगा, तो यह तो एकदम अलग होने की बात है। वहाँ तो बंधन नहीं रहा शरीर से, पर बंध पर्याय में जीव की और पुद्गल की एकता नजर आती है। और बतलाओ इस जीव का निवास है कहाँ शरीर के प्रदेशों को छोड़कर? कैसा घना अवगाह रूप होकर जीव रह रहा है कि यदि इस जीव के शरीर की बनावट के भीतर कहीं पोल रह गई तो वहाँ आत्म प्रदेश भी नहीं है। देह के रग-रग में बस रहा है यह जीव। जैसे कान के बीच में जो छेद है वहाँ कोई शरीर का पुद्गल पुद्गल नहीं है। पेट में भी जितनी जगह पोल होगी, नासिका में जहाँ पोल है वहाँ शरीर के अणु भी नहीं हैं तो जीव प्रदेश भी नहीं है, ऐसा जीव का घन अवगाह हो रहा है। तो इस बंध पर्याय में जीव और पुद्गल की एकता ही तो है। क्या यह बात भूतार्थ नहीं है? क्या वह मिथ्या बात है? ऐसा प्रश्न होना प्राकृतिक है।

**बन्धपर्याय में दो द्रव्यों की एकता विदित होने पर भी परमार्थतः एकता का अभाव-** अब उक्त प्रश्न के समाधान में सुनिये, देखिये- यह बात भी हमने कब जानी जब अपने स्वरूप मात्र से हटकर इन दो पदार्थों पर उपयोग लगाया, तब ही तो जान पाया कि जीव और पुद्गल की एकता है बंध पर्याय में। अरे हम जानने के लिए चलें और मूल में ही भूतार्थ पद्धति को कुचल कर चलें तब इसका वहाँ साध्य कैसे नजर आयेगा कि भूतार्थ पद्धति से क्या समझ बनती है? हाँ बहिर्दृष्टि होने पर, अपने आप स्वभाव से एकत्व के उपयोग से च्युत होने पर बाहर में जब निरखते हैं तो जीव और पुद्गल इन दोनों की एकता बराबर समझ में आयेगी। मगर यह बात तो हमने समझी है स्वरूप से चिगकर, दो पदार्थों पर दृष्टि देकर अन्यथा तो हमें इस वक्त भी जीव में जीव नजर आता और पुद्गल में पुद्गल दिखता। जैसे – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये 5 द्रव्य कहां रह रहे हैं? आकाश में, लेकिन जब भूतार्थ पद्धति से देखते है तो वहाँ यह नजर आता है कि आकाश में ही आकाश रह रहा है। जीव, पुद्गलादिक नहीं। जीव द्रव्य में जीव ही रह रहा, धर्म द्रव्य में धर्म ही रह रहा, किसी में और कोई अन्य पदार्थ नहीं रह रहे, क्योंकि भूतार्थ पद्धति स्वरूप चतुष्टय को ग्रहण करता हुआ बनता है। तो जब बहिर्दृष्टि करके निरखा तो जीव और पुद्गल इनकी एकता का अनुभव हुआ, फिर भी जो नजर आया कि ये दो अलग कुछ नहीं है, इस जीव पुद्गल की एकता ही है तो इस दृष्टि में रहते हुए ठीक जंच रहा है। इस दृष्टि में रहकर वह भूतार्थ है, किन्तु यह भूतार्थता बनी कब? जब बहिर्दृष्टि बन रही है तब। तो बहिर्दृष्टि के अनुभव में अथवा जो बाहर की ही दृष्टि में रह रहा है उसे कहते हैं



मिथ्यादृष्टि। उसके अनुभव में यह एकता नजर आ रही है। बंध पर्याय में पर्यायदृष्टि से तो एकता है, मगर उस एकता को जो सर्वथा मान लेगा, स्वभाव का भी उसे परिचय न रहेगा। और स्वभाव से सब पदार्थ अपने आपके एकत्व में है, यह दृष्टि जब न रही तब कुछ भी जानना समझना किस काम का।

**पर्यायदृष्टि से बंध पर्याय में एकत्व होने पर भी विवेकी जनों की स्वरूपदर्शन में रुचि-** बंध पर्याय में पर्यायदृष्टि से एकता होने पर भी उस एकता मात्र का अनुभव जो करेगा उसकी दृष्टि शुद्ध नहीं है, विवेकी पुरुष संयोग दृष्टि न रखकर पदार्थ को केवल उसमें ही निरखने का यत्न किया करते हैं। जानने के लिए जान लिया, पर हेय और उपादेय का विचार भी तो आवश्यक है और कर्तव्य है। बंध पर्याय में जीव पुद्गल की एकता है, यह पर्यायदृष्टि से समझ में आयेगी, मगर वहाँ ज्ञान टिकाना नहीं है क्योंकि वहाँ मिलेगा क्या, उससे उद्धार क्या? वह हेय तत्त्व है, और हेय तत्त्व यों ही हुआ कि वह पर्यायदृष्टि में निरखा गया तत्त्व है। भूतार्थदृष्टि में या निश्चयदृष्टि में निरखा हुआ तत्त्व हेय नहीं है, किन्तु स्वयं छूटता है, हटाये नहीं छूटता। जानकर तो लगता ही है मगर पर्याय दृष्टि में जानकर नहीं लगता और द्रव्य अथवा परमार्थ दृष्टि के विषय में जानकर लगना। कब तक लगना, जब तक कि अपने आप छूट न जाये। तो भूतार्थ पद्धति से जब कुछ जाना जाता है तो वहाँ कैवल्य स्वरूप प्रतिभास में रहता है।

**निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के अवगम को भूतार्थता में शामिल न करने के कारण की पृच्छना-** आज के प्रसंग में यह बात चल रही है कि जीवाजीवादिक का श्रद्धान करना क्या सम्यग्दर्शन नहीं है? तो उत्तर में बताया जा रहा है कि यह सब निश्चय सम्यक्त्व का कारण है जब कि भूतार्थनय से जाना गया हो। भूतार्थ नय से जानने पर केवल एक आत्मतत्त्व ही प्रतिभास में रहता है। तो जब आस्रव तत्त्व को ही जानने चला था भूतार्थ पद्धति से, तो एक को एक में ही निरखा गया था। तो यहाँ प्रश्न यह हो रहा है कि आस्रव आदिक तत्त्व केवल एक में देखा जाये तो यह देखने वाले की मर्जी है, किन्तु इस तथ्य को तो नहीं हटाया जा सकता कि कर्म का निमित्त पाकर जीव में आस्रव हुआ और जीव परिणाम का निमित्त पाकर कर्म के आस्रव हुए, क्या यह बात यथार्थ नहीं है? यह एक अलग बात है कि कोई केवल जीव को ही निरखना चाह रहा है, पर वास्तविक तो यह भी है ना कि जीव परिणाम का निमित्त पाकर कर्मास्रव होता है और कर्मोदय का निमित्त पाकर जीवास्रव होता है। यह बात भी तो तथ्य की है, फिर इसे भूतार्थ में क्यों नहीं शामिल करते?

**बाह्यदृष्टि होने पर ही निमित्त नैमित्तिकता का अवगम होने से भूतार्थ पद्धति का अपलाप-** समाधान उक्त शंका का यह है कि इस निर्णय में कि कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव में आस्रव होता है। यद्यपि यह बात आयगी कि होता है यह आस्रव एक जीव में ही और होता है पर पदार्थ का निमित्त पाकर, तो एक द्रव्य में भी इस नैमित्तिक पर्याय के अनुभव करने पर यह बात तो आयगी कि इसमें निमित्त नैमित्तिक भाव है और ऐसा नैमित्तिक भाव होना तथ्य की बात है, भूतार्थ है, सच है, किन्तु ऐसी भूतार्थता बनी कब? ऐसा तथ्य जँचा



कब? किस स्थिति में इसको यह बातें विदित हो रही है कि कर्म का निमित्त पाकर जीव में आस्रव हो रहा, यह परिचय बना बाह्यदृष्टि करने पर, दो पदार्थों पर दृष्टि रखने पर, जीव द्रव्य के स्वभाव को छोड़कर ऐसी ही पर्याय का अनुभव करने लगे तो यह तो बहिर्दृष्टि का परिणाम हुआ। परमार्थतः भूतार्थता कहाँ रही? तो यों शुद्ध केवल निरपेक्ष सहजभाव दृष्टि में रहे तब समझिये कि हमने भूतार्थ पद्धति से जाना है, तो इस भूतार्थ रीति से जाने गये ये 9 पदार्थ ( जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ) निश्चय सम्यक्त्व के कारण हैं, अतएव ये भी सम्यक्त्व कहलाते हैं।

**भूतार्थदृष्टि और उसका प्रभाव-** भूतार्थदृष्टि किसे कहते हैं और भूतार्थदृष्टि में क्या ज्ञात होता है और भूतार्थदृष्टि के फल में लाभ क्या मिलता है, इन तीन बातों को जान लेना भी बहुत हितकर है। भूतार्थदृष्टि उस दृष्टि को कहते हैं जो एक को उसी एकता की ओर ले जाने वाली दृष्टि हो। किसी भी पदार्थ में उसके एकत्व स्वरूप की ओर जो ले जावे ऐसी दृष्टि को भूतार्थदृष्टि कहते हैं। व्युत्पत्ति से अर्थ यह होता है कि स्वयं होने वाले भाव की दृष्टि होना उसे कहते हैं भूतार्थदृष्टि। इस दृष्टि में केवल स्वभाव ज्ञात होता है। अपने आप सहज ही अपने सत्त्व में जैसा जो कुछ है वह ज्ञात होता है भूतार्थदृष्टि से और परमार्थतः यही स्वभाव धर्म कहलाता है। भूतार्थदृष्टि से विदित हुए स्वभाव का उपयोग रखना यही धर्म पालन है। जगत के जीवों ने काम तो निरन्तर किया, श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र का। मिथ्यादृष्टि रहे और वहाँ भी निगोद आदिक की कठिन कुयोनियों में रहे तब भी श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र का काम कहीं भी बंद नहीं हुआ। तब पर्याय को आत्मा रूप की प्रतीति कर रहा और सहज भाव की सुध न रखकर कुछ भी जानता रहा और कषायों में विषयों में यह रमता रहा—यह श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र का काम हुआ। ऐसा अंधकार छाया रहता है इस जीव के जो संसार में रुल रहा है कि उसे इस परमार्थ स्वरूप का पता ही नहीं रहता कि मैं क्या हूँ? मैं वह हूँ जिसका कहीं कुछ नहीं है, किसी से सम्बंध नहीं, कोई पदार्थ नहीं, किसी से लेन देन नहीं। अपने आप में परिपूर्ण है, चैतन्य स्वभाव रूप है और अपने में अपना उत्पाद, व्यय करता रहता है। इसका किसी से क्या सम्बंध है? वस्तु तो विविक्त है पर अज्ञानी ने दृष्टि ऐसी बनाई कि दृष्टि में वह विविक्त न रह सका। बस यही विडम्बना है और संसार की समस्त कुयोनियों में भ्रमण करने का यही उपाय है। भैया ! स्वहित के लिये अन्तः बहुत महान साहस बनाना होगा कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। मात्र मैं ही मेरा स्वरूप ही मेरा है। तब जगत में कहीं कुछ भी बिगड़े, बने रहे, जो परिणति होती हों, हों, उनकी परिणति उनके लिए है, मेरी परिणति मेरे लिए है।

**वस्तु में अभेद षट्कारकता का परिचय-** छहों कारक वस्तु में अपने आप में घटित हो जाते हैं। छहों कारक क्यों घटित किये जाते हैं कि इनको भिन्न पदार्थों में 6 कारक मानने की आदत पड़ी है, उससे हटाने के लिए अपने आप में छहों कारक घटाने की बात कही जाती है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। सम्बंध कोई कारक संस्कृत में नहीं माना गया। इसका कारण यही है कि सम्बंध होता ही नहीं है। मानों कहा जाये कि चीजें दो हैं, सो अपने आप में खुद हैं, सम्बंध क्या हैं? तो इस प्रक्रिया से यह विदित

होता है कि सम्बंध तो कल्पना की बात है। सम्बंध एक का दूसरे के साथ नहीं होता है। आधार हो जाता है। भिन्न प्रक्रिया में भी एक पदार्थ आधार है, एक आधेय। जैसे बेंच पर पुस्तक रखी तो आधार आधेय भाव हो गया, ठीक है, लेकिन सम्बंध क्या हुआ? पुस्तक की बेंच है कि बेंच की पुस्तक। लोग ऐसा कहते जरूर हैं कि बेंच की पुस्तक लावो याने इस बेंच पर जिस पुस्तक को रखा करते थे उसे लावो। तो अर्थ इसका लम्बा और काल्पनिक भी है। सम्बंध कुछ नहीं। अब एक ही पदार्थ में वे छहों कारक घटित हों तो जीव का अंतःप्रकाश मिले। कर्ता- मैं करने वाला हूँ, मैं मेरे ही परिणमन को करता रहता हूँ, अब मेरे परिणमन में भी एक जानन परिणमन ले लीजिए। यही मुख्य धर्म है। तो उस पर घटावो। मैं जानता हूँ, अपने आप को जानता हूँ, जानने वाले को जानता हूँ, किसी दूसरे पदार्थ के द्वारा मैं नहीं जानता। केवल अपने द्वारा ही जानता हूँ और जानने वाले के लिए ही जानता हूँ। जानने का फल, जानने का प्रभाव किसी अन्य में न जायेगा। उस जानने की क्रिया से जो कुछ मिलता है वह खुद को ही मिलेगा दूसरे को नहीं। और जानने वाले से जानता हूँ। याने जानने वाला यह है ध्रुव और उससे जानन परिणति निकल रही है। यों उस जानने वाले से जानता हूँ। जैसे भेदकारक में कहते हैं- वृक्ष से पत्ते गिरते है तो वहाँ भी यह ही दृष्टि की गई कि वृक्ष है ध्रुव और उससे पत्ता निकला। ध्रुव से निकलने में अपादान कारक का प्रयोग होता है। मैं जानने वाले से जानता हूँ। जानन पर्याय मेरे से प्रकट हो जाती है अन्य से नहीं। और जानने वाले में ही जान रहा हूँ। मैं अपने आप में ही वह जानन परिणमन कर रहा हूँ।

**जानन और नीति रीति-** अब देखिये, जानन एक ऐसा विशुद्ध परिणमन है कि इसका आकार ज्ञेयाकार बनता है। किसी पदार्थ का जानन रूप ही तो बन रहा है। तो इसमें विषय होता है पर पदार्थ। जब मोह रहा है जीव को, तो उस पर-पदार्थ में लगाव रख लेता है, बस विडम्बना यह है। काम तो चल रहा है सबका अपनी वस्तु के कानून के माफिक। लेकिन इस चेतन ने ऐसी कुदृष्टि की कि यह अपने ईमान पर न रह सका। अजीव पदार्थ तो अपने ईमान पर डटे हैं, उनमें सही बात हो रही है। उनमें जब जैसा निमित्त मिला तब तैसा होता है। विरोध में कुछ नहीं करते। लेकिन यहाँ जीव में एक दूसरे के साथ सम्बंध नहीं, फिर भी ये दृष्टि में सम्बंध मान लेते हैं, तो ये ईमान से ही तो गिरे। अथवा वस्तु स्वरूप के क्षेत्र में देखिये और परिणमन क्षेत्र में देखिये तो यहाँ भी ये ईमान से नहीं गिरे। जब मिथ्यात्व का उदय आया तो इस जीव को रूलना चाहिए, मरना चाहिए, कष्ट भोगना चाहिए, यह ईमान की बात है। इसने पाप किया तो उस पाप के उदय में इसको कष्ट मिलना चाहिए अथवा मिथ्यात्व के उदय में इसकी दृष्टि पर में लगनी चाहिए, अज्ञान अंधकार होना ही चाहिए ऐसा ही वह निमित्त नैमित्तिक भाव है। तो यों खोंटी बातें होना भी एक इस परिणमन क्षेत्र में न्याय की बात है। अब विवेक यह करना है कि मैं किस तरह का परिणमन करता रहूँ तो मेरा उत्थान है और किस परिणमन में मेरी बरबादी है? एक सीधी सी बात यदि कह दी जाये कि भाई तुम्हारी तो अब यह हालत होना है कि मरेंगे तो जरूर आप, और मरकर किन्हीं पशु, पक्षी आदिक योनियों में जन्म लेना

होगा, वहाँ भी जिन्दगी बिताओगे। वहाँ तुम्हें मारा, पिटा, काटा, छेदा, भेदा जायेगा। बस आपका यही तो प्रोग्राम है, यही तो काम है। तो न सुहायेगा यह काम। और यह भाव बनेगा कि मुझे ऐसा जन्म मरण न चाहिए। जन्ममरण यदि न चाहिए तो इसका उपाय भी तो करना चाहिए। उसका उपाय यही है कि भूतार्थदृष्टि से जाने गये इस अंतःचैतन्य स्वरूप का उपयोग रखना। जैसे व्यापारी लोग माल की गारंटी भी देते हैं, इसकी 10 साल की गारंटी है, यह नियम से ऐसा ही कार्य करेगा, ऐसे ही यहाँ भी यह गारंटी है कि यदि उपयोग पर-पदार्थ से हटकर, परभाव से निवृत्त होकर अपने आपके स्वभाव में रमता है तो नियम से कर्म खिरेंगे और मुक्ति प्राप्त होगी। यहाँ भी दूसरी बात नहीं हो सकती। तो भूतार्थदृष्टि से जानने का कितना उच्च फल है? और स्वभाव की दृष्टि रखना यही धर्म का पालन है।

**दान, पूजा आदि में धर्म रूपता की गवेषणा-** इस प्रसंग में यह एक शल्य बनाया जा सकता है कि पूजा, यात्रा, दान आदिक भी तो धर्म हैं, उनकी उपेक्षा यहाँ क्यों की जा रही है? तो क्या यह धर्म नहीं है? नहीं है तो करते क्यों हैं? और कर रहे हैं बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष भी। तो इस शल्य की निवृत्ति इस आश्रय से हो जाती है कि पहले धर्म का अर्थ समझिये। धर्म कहते किसे हैं? मोह क्षोभ रहित निर्विकार परिणाम का नाम धर्म है। अविकारी स्वभाव जिसकी दृष्टि करने से भय दूर होता है, संकट मिटते हैं, शान्ति प्राप्त होती है, जहाँ क्रोध, मान आदिक कोई विकार नहीं है, जिस स्वभाव को भूलकर यह जीव भव-भव में कष्ट भोगता है और जिस स्वभाव की सुध पाकर यह जीव संसार से तिर जाता है, ऐसे सहज ज्ञानानन्दघन निज स्वभाव का दर्शन करना, आश्रय करना, यह है धर्म पालन।

**शुभोपयोग का विलास-** अब रही दान, पूजा, यात्रा की बात, तो सुनो। ये दो प्रकार से होते हैं- एक द्रव्य रूप, दूसरा भाव रूप। याने द्रव्य पूजा, द्रव्य यात्रा, द्रव्य दान। सामग्री हाथ से चढ़ा रहे, या मुख से विनती बोल रहे, यह तो द्रव्य पूजा है, पैरों से जा रहे, यह द्रव्य यात्रा है और हाथ से दूसरों को दान दे रहे यह द्रव्य दान है। तो ये सब बातें आत्मा का परिणाम नहीं है। हाथ, पैर, मुख आदिक का चलना यह आत्मपरिणति नहीं है। भले ही कोई न कोई आत्मपरिणति इन कार्यों में निमित्त है लेकिन ये कार्य आत्मा के परिणामन नहीं हैं। अब भावपूजा, भावयात्रा और भावदान की बात देखिये- भगवान का चरित्र याद होना, भगवान की भक्ति जगना, अनुराग जगना, भीतर में आल्हाद होना, उसकी धुन बनाना, यह सब कहलाती है भाव पूजा। ये हैं आत्मा के शुभ परिणाम। इसमें मन, वचन, काय की शुभ चेष्टा है और शुभ परिणाम हैं। भावपूजा, भावयात्रा, भावदान, ये निर्विकार परिणाम नहीं हैं, इसमें मंदकषाय है, आल्हाद है। हर्ष के आँसू भी बहें, विषाद के आँसू भी बहें, गद्गद् वाणी हो जाये, स्पष्ट शब्द न निकलें, ये सब शुभ परिणाम हैं, निर्विकार परिणाम नहीं हैं, लेकिन निर्विकार परिणाम जिसके हुआ करते हैं उससे पहले निर्विकार नहीं है, विकार है, तो यों ही विकार हुआ करता है। इस कारण यह व्यवहार धर्म है। पाप परिणाम के बाद स्वानुभव किसी को नहीं

जगता। जब स्वानुभव जगता है तो पुण्य परिणाम के बाद जगता है। इस कारण पुण्य परिणाम स्वानुभव का एक निगाह से कारण हुआ, इस कारण वह व्यवहार धर्म हैं।

**निर्विकार पर्याय के कारण के अन्वेषण प्रसंग में ऋजुसूत्रनय के विषय पर प्रकाश-** अब यह विकार परिणाम, यह शुभभाव निर्विकार स्वानुभव परिणाम का कारण होता है या नहीं? इस पर भी अब निर्णायक दृष्टि से विचार करो। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से निर्विकार परिणति का कारण विकार परिणति नहीं हो सकती और यह ही क्या, ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में किसी भी पर्याय का कारण पूर्व पर्याय नहीं है। ये नय के अपने-अपने विषय हैं। ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है। उसकी निगाह में ही दूसरी पर्याय नहीं, फिर कारण कार्य क्या ढूँढ़ें? ऋजुसूत्रनय केवल एक पर्याय को निरखता है। एक भाव को देखता है, दूसरे को नहीं देखता। सो इस नय से व्यवहार नहीं बनता। लेकिन जो बात है वह भी तो जानना चाहिए। इस नय की दृष्टि में व्यवहार की कोई बात कही भी नहीं जा सकती। कोई कहे कि रुई जल रही है। तो जो जल रही है वह रुई न रही, जो रुई है वह जल नहीं रही। सारी दुकान में आग लग जाये तो वहाँ विद्वान के ऋजुसूत्रनय से काम ही न निकलेगा। क्या बुझायें? जो जल रही उसका बुझाना क्या, जो नहीं जल रही उसका बुझाना क्या? तो ऋजुसूत्रनय से व्यवहार नहीं चलता, मगर एक समयवर्ती पर्याय कैसी होती है? क्या ढंग है? यह भी तो एक ज्ञेय तत्त्व है, उसकी जानकारी की जा रही है। इस नय में विशेष्यविशेषण भाव तक भी नहीं बनता। क्या बोला जायेगा? कोई यदि कह दे कि कौवा काला है तो यह नय कहता है कि यह झूठ बात है। जितना पूरा कौवा है क्या वह काला है? भीतर में जो लाल, सफेद आदि खून, हड्डी हैं वे भी काले हैं क्या? वे तो काले नहीं हैं। जितने- जितने काले होते हैं वे सब कौवा होते हैं क्या? तब तो फिर काले बंदर, गाय, भैंस आदि हैं ये सब भी कौवा हो जायेंगे? तो ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में व्यवहार नहीं है और उसकी दृष्टि में व्यवहार का लोप हो जाता है। होता है तो होने दो। व्यवहार की जगह इस नय से काम न लिया जायेगा, पर नय का जो विषय है उसके समझने के प्रसंग में यह नय काम करेगा।

**निर्विकार पर्याय के कारण की चर्चा-**अब यहाँ निर्विकार पर्याय का कारण क्या है? इस सम्बंध में बात सोची जा रही है। निर्विकार पर्याय का कारण पूर्ववर्ती विकार पर्याय नहीं हो सकता। एक तो कार्यकारण विधान ऋजुसूत्रनय के आशय से नहीं हो सकता, दूसरी बात सुनने में भी विषम लग रहा है कि निर्विकार परिणाम का कारण विकार बन जायेगा क्या? क्या विकार से निर्विकार हुआ करता है? लेकिन यह बात वहाँ पायी जा रही है कि प्रथम बार निर्विकार परिणाम आयेगा तो उसके पूर्ववर्ती समय में ऐसे ही शुभ परिणाम हुआ करते हैं। और ऐसे शुभभाव के गुजरे बिना निर्विकार परिणाम नहीं आ सकता। जैसे तीसरी सीढ़ी पर चढ़ने का कारण दूसरी सीढ़ी है, ऐसा सभी लोग कहते हैं। अब उस पर विचार करें तो क्या वास्तव में दूसरी सीढ़ी तीसरी सीढ़ी पर चढ़ने का कारण है?... कभी नहीं। दूसरी सीढ़ी तो अपने आप में है, उस पर रहने वाला पुरुष वहीं है, वह तीसरी सीढ़ी की कदम का कैसे कारण है? लेकिन यह भी तो बताये कोई कि दूसरी सीढ़ी

से गुजरें बिना कोई तीसरी सीढ़ी पर चढ़ जायेगा? तो इस दृष्टि से कारण है तीसरी सीढ़ी पर जाने का दूसरी सीढ़ी। यों ही प्रकृत प्रसंग में सोचिये- निर्विकार परिणाम तो कषाय रहित अनुभव है और शुभभाव मंद कषाय का अनुभव है और अशुभभाव तीव्र कषाय का अनुभव है। अब यहाँ तीन बातों में निर्णय करिये- तीव्र कषाय का अनुभव, मंद कषाय का अनुभव और कषाय रहित परिणाम होना। इससे कषाय रहित परिणाम के होने से पहले मंद कषाय का भाव आयेगा या तीव्र कषाय का भाव आयेगा... मंद कषाय का भाव आयेगा। चाहे कोई तीव्र परिणाम रखने वाला पुरुष बहुत जल्दी ज्ञानमार्ग में आये तो वहाँ बड़ी जल्दी तीव्र कषाय को छोड़कर मंद कषाय में आया। उसके पश्चात् यह निर्विकार परिणाम रहा। तो निर्विकार अनुभव शुभभाव के अनन्तर होता है, इस कारण निर्विकार अनुभव का कारण शुभभाव बताया गया है।

**अध्यात्म कारणकार्य विधान प्रक्रिया की चर्चा से उपलब्ध शिक्षा-** उक्त कारण कार्य प्रक्रिया की चर्चा से शिक्षा यह लेना चाहिए कि हम लोग लक्ष्य में पूर्ण सावधान रहें, रंच मात्र गलती न करें, और उस लक्ष्य के पाने की धुन बनायें। उस धुन में लक्ष्य न मिले तब तक ये सब शुभभाव रूप व्यवहार धर्मपालन करना अपना कर्तव्य है। और उन कर्तव्यों में रहकर लक्ष्य रखना है स्वभाव का। तो यों स्वभाव का उद्देश्य, लक्ष्य, विधान जब सही बनेगा तब समझिये कि कर्मों की निर्जरा होगी। जैसे केवल कहने मात्र से "अष्टकर्म दहनाय धूपं" कहीं कर्मों का दहन नहीं हो जाता, लेकिन भाव तो बनाता है और लक्ष्य तो रहता है इसका, तो पात्रता जगाये रखने का काम शुभभाव करता है और कर्म निर्जरा का काम शुद्धभाव करता है, अथवा यों समझिये जैसे किसी योद्धा को युद्ध में ढाल और तलवार इन दो की जरूरत है तो मारने का काम तलवार करती है। यों ही कर्म निर्जरा का काम शुद्धभाव करते हैं और विषय कषायों से बचाने का काम शुभभाव कर रहा है। यों कहीं शुभभाव कर्तव्य है, लेकिन लक्ष्य तो शुद्धभाव का ही होना चाहिए।

**पूर्व परिणाम युक्त द्रव्य की उपादान का कारणरूपता-** उपादान कारण के सम्बंध में यह वर्णन आया है कि पूर्वपर्याय संयुक्त द्रव्य उपादान कारण कहलाता है, यह लक्षण सर्वदोषों को टालता हुआ लक्षण है। यदि केवल इतना ही कहा जाता कि पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय का उपादान कारण है तो यों कहने से ये सब बातें भी प्रसंग में आयेगी कि सम्यग्दर्शन होने से पहले मिथ्यात्व पर्याय थी, तो सम्यक्त्व का कारण हुआ। जब मिथ्यात्व सम्यक्त्व का कारण हुआ, उपादान कारण है तो आत्म द्रव्य तो अनादि से ही है। सदैव क्यों नहीं सम्यक्त्व हो गया? और जब यह कहा गया कि पूर्व पर्याय से संयुक्त द्रव्य उपादान कारण है तो इस कथन में द्रव्य की तो मुख्यता हुई, क्योंकि यहाँ विशेष्य जो है वह द्रव्य कहा गया। किन्तु किस प्रकार का द्रव्य उपादान कारण है जो द्रव्य विवक्षित पर्याय से पहली पर्याय में रह रहा है, तो यों एक दृष्टि से देखा जाय तो सम्यग्दर्शन का कारण, सम्यक्त्व से जो पूर्व पर्याय है, पूर्व परिणामन है, होगा, सम्यक्त्वरहित उस परिणति से संयुक्त द्रव्य सम्यक्त्व की उत्पत्ति में उपादान कारण है, लेकिन वहाँ यह बात निर्णय में रखना है कि सम्यग्दर्शन का कारण अनन्तर पूर्ववर्ती मिथ्यात्व पर्याय संयुक्त द्रव्य है, यह एक विवक्षा से बात है। पर

वस्तुतः मिथ्यात्व की सम्यक्त्व में साधकतमता नहीं है, यों विकार भावों में निर्विकार परिणाम की साधकतमता बनते हैं।

**पर्यायदृष्टि के एकान्त में अहेतुकवाद व क्षणिकवाद की उत्पत्ति-पर्याय पर्याय पर दृष्टि देंगे तो पहली पर्याय उत्तर पर्याय का कारण नहीं है। इस ही दृष्टि में क्षणिकवाद की उत्पत्ति हुई। क्षणिकवाद में शाश्वत कोई पदार्थ नहीं माना। जो पर्याय है वही पूर्णद्रव्य है और चूंकि पर्याय अन्य पर्याय का कारण नहीं है, न उपादान है, न निमित्त, वह तो द्रव्य की अवस्था है। तो क्षणिकवाद में भी यह माना गया कि असत् का उत्पाद होता है और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, उसका कारण कोई नहीं है। सब अहेतुक होते हैं। यह बात इस दृष्टि से ही तो उन्हें मिली कि केवल पर्याय को ही देखा गया और उसे ही सर्वस्व समझा गया। तो किसी पर्याय से किसी पर्याय की उत्पत्ति नहीं है। उत्पत्ति तो उपादान में है, पदार्थ में है। तो यह लक्षण बहुत ही उपयुक्त है कि पूर्वपर्याय संयुक्त द्रव्य, उपादान नवीन पर्याय का उपादान कारण होता है। यह सिद्धान्त सभी घटनाओं में घटित हो जायेगा।**

**धर्मभाव के उपादान कारण की समीक्षा-** अब देखिये- धर्मभाव का उपादान कारण क्या है ? धर्मभाव स्वभाव भाव है, आत्मा का स्वभाव चैतन्य है, और चैतन्य का कभी पूरा आवरण हो ही नहीं सकता। तभी तो कितने ही कर्मों का आवरण आये, ज्ञानावरण कर्म का बहुत अधिक आवरण हो, तब भी कुछ न कुछ ज्ञान प्रकट ही रहता है, उस ज्ञान का कभी आवरण न हुआ, न होगा। इसे कहते हैं नित्योद्घाट निरावरण ज्ञान।

सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तक जीव के कम से कम ज्ञान रहता है, वह हमेशा प्रकट है और आवरण रहित है, अब आगे विकास होता है तो वह चैतन्य विकास अगले विकास का उपादान कारण बन गया। कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ जो भी विकास है, उस विकास का कारण पूर्व विकास है। उत्तर पर्याय का कारण पूर्व पर्याय संयुक्त द्रव्य है। इसी बात को अब गुणों के विकास के क्षेत्र में देखें तो उत्तर विकास का कारण पूर्व विकास है क्योंकि उस धारा में वह विकास चल रहा है। तो वह विकास विकास का उपादान हुआ। जब कर्मों का क्षय क्षयोपशम होता है तब होता है विभावों का अभाव और विभावों का अभाव होने से जो सहज विकास होता है जीव के ज्ञानादिक का, वह विकास उत्तर विकास का कारण होता हुआ पूर्णविकास तक ले जाता है। देखिये अब निरन्तर के पूर्ण विकासों में भी पूर्व पूर्ण विकास उत्तर पूर्ण-विकास का उपादान है। हाँ, यहाँ इतनी बात अवश्य है कि वहाँ हीनाधिकता नहीं है। पहिले हीनाधिकता थी।

**भक्तिभाव की धर्मरूपता पर विचार-** जब हम एक भूतार्थ पद्धति से निरखते हैं तो वहाँ यह ज्ञान में आया कि यह विकास इस विकास ही से निकला है, और जब एक सर्वेक्षण करते हैं तो वहाँ विदित होता है कि पुद्गल कर्म आदिक की अवस्था के निमित्त से जो यह परिणमन हुआ है अथवा कुछ भी विभाव हुआ है उसका कारण पूर्व पर्याय संयुक्त द्रव्य है। और सूक्ष्म दृष्टि से धर्मभाव का उपादान कारण पूर्व धर्मभाव का

विकास है। विकास से विकास बढ़ता जाता है। तब यहाँ एक जिज्ञासा यह हो सकती तो प्रभु की भक्ति करना आदिक क्या धर्म नहीं है? तो इसके उत्तर दोनों ही आते हैं- धर्म है और नहीं है। भक्त आत्मा में जो एक स्व शुद्ध आत्मतत्त्व की प्रतीति बनी है और उसमें जो वैराग्य भाव बसा हुआ है वह तो धर्म है और उसके साथ जो अनुराग भाव बन रहा है, वह धर्म नहीं, किन्तु शुभोपयोग है। देखिये- भक्ति भाव किस स्थिति में बनता है। ज्ञान, वैराग्य और अनुराग ये तीनों बातें जुड़ती हैं तब भक्तिभाव बनता है। ज्ञान न हो तो किस स्वरूप के ध्यान में भक्ति जगे? वैराग्य न हो तो शुद्ध तत्त्व में या प्रभु में भक्ति आ ही नहीं सकती। उसके तो होगा विषयों में राग। और जब तक अनुराग न होगा तब तक भक्ति नहीं बनती। तो भक्ति में ये तीनों बातें हेतु पड़ती है- ज्ञान, वैराग्य और अनुराग। तो जो ज्ञान और वैराग्य है वह तो धर्म है और जो अनुराग है वह शुभोपयोग है, धर्म नहीं है।

**भक्ति भाव की धर्मभाव निकटता-** भक्ति भाव अधर्म है, इस शब्द से कहना कटुवचन होगा, कारण कि वह ज्ञान और वैराग्य के अति निकट का भाव है, पर स्वरूप को निरखकरके कोई ऐसा भी कहे तो उसका अर्थ है- धर्म नहीं है। तो धर्मभाव तो वास्तव में ज्ञान और वैराग्य है। और जितना अनुराग है, मन, वचन, काय की शुभ चेष्टा है, प्रभु का ध्यान है, वह सब एक शुभोपयोग है, धर्म नहीं है। वह पुण्य का कारण है, पुण्य भाव है। तब परख करके कहा जाये तो यों कह सकते हैं कि भक्तिभाव मिश्र भाव है, इस कारण वह धर्म नहीं है और अधर्म भी नहीं है। किन्तु धर्म के निकट वाला भाव है। जिस जीव की दृष्टि प्रभु के उस शुद्ध ज्ञान विकास और निर्विकार भाव पर गई है और इस दृष्टि में जो आल्हादित होकर प्रभु की ओर ही आकर्षित है, प्रभु के गुणों में ही अपनी धुन बनाये हुए है ऐसे पुरुष की स्थिति को अधर्म तो कह नहीं सकते। और अनुराग परिणाम वाला बन रहा अतएव धर्म कह नहीं सकते। किन्तु उस परिणति के मूल में धर्मभाव पड़ा हुआ है। शुद्ध ज्ञान और वैराग्य का भाव हुए बिना भक्ति भाव आ नहीं सकता। इस कारण भक्ति भाव में जितने अंश ज्ञान, वैराग्य है वह तो धर्म है और जितने अंश में अनुराग है वह भाव विभाव है, धर्म नहीं है।

**शुभोपयोग की वर्तना और कर्म निर्जरा की साधना-** शुभोपयोग परिणाम छठे गुणस्थान तक होता है। तो छठे गुणस्थान तक जो शुभोपयोग बताया, उसका भाव यह है कि देखिये- उपयोग तो एक समय में एक होता है। चाहे शुभोपयोग हो अथवा अशुभोपयोग हो और चाहे शुद्धोपयोग हो। अब प्रथम तीन गुणस्थानों में अशुभोपयोग होता है और चौथे से लेकर छठे गुणस्थान तक शुभोपयोग होता है, पर साथ ही साथ इस शुभोपयोग में उस जीव के अन्तःशुद्ध विकास भी चल रहा है। तो शुद्ध विकास का स्पर्श है, उसके साथ यह शुभोपयोग है। उपयोग तो लगने को कहते हैं। अपना उपयोग लगाया इस जीव ने शुद्ध तत्त्व की ओर, तो चूँकि एक रुचि से लगाया इसलिए शुभोपयोग कहलाया, पर वहाँ जो झलक हुई, जिसकी झलक हुई और वहाँ स्वतः सहज जो वर्त रहा है एक विकास, वह विकास तो शुद्ध है। उस शुद्ध की दृष्टि होती है। तो आंशिक रूप से शुभोपयोग है, पर मुख्यता शुद्धोपयोग की है। इन शुभोपयोगों में जो ज्ञान और वैराग्य का



अंश है वह तो धर्म है और जो रागांश है वह धर्म नहीं है। निर्जरा किस भाव के प्रसाद से हो रही है? वह भाव है सहज। ऐसा सहज भाव, ऐसा वह शुद्ध विकास का अंश कि जिसके कारण ज्ञानी पुरुष के जगते भी निर्जरा हो रही और सोते हुए में भी निर्जरा हो रही। जब ज्ञानी जीव शुभ के उपयोग में रह रहा तब भी निर्जरा हो रही और विषय कषायों के उपयोग में भी लग रहा हो तब भी निर्जरा हो रही। इस निर्जरा का कारणभूत जो विकास है, जो है सो है, अब उसके उपयोग की बात है कि इस समय कहां उपयोग लग रहा? अशुभ की ओर उपयोग होने में कुछ थोड़ा फर्क आये तो आये, लेकिन मूल में सम्यक् भाव के कारण जो निर्जरा हुई है वह तो चल ही रही है। शुभ के उपयोग के सम्बंध में कुछ विशेषता जगे, अशुभोपयोग की अपेक्षा तो रहे लेकिन निर्जरा का मूल कारण जो उस ज्ञानी के था, जो कि अशुभोपयोग में लग रहा वही विकास, वही कारण इस शुभोपयोग के भी है और कभी एक सेकेण्ड के हजारवें हिस्से भाग भी उस शुद्ध का अनुभव जगे, जिसे स्वानुभव की स्थिति कहते हैं तो वहाँ भी कर्म की निर्जरा उतनी ही है जितनी कि इस शुभोपयोग के समय थी। थोड़ी विशेषता भर हो जाती है, उसका कारण यह है कि सर्व बात, सर्व निचोड़ मूल से चला करता है। अन्तः कैसी योग्यता है, उसके आधार पर ये सब बातें चलती हैं।

**धर्म का कारणरूप भाव-** धर्म का कारण धर्म की दृष्टि है। पूर्व धर्म विकास उत्तर धर्म विकास का कारण बन जाता है। बच्चे लोग एक खेल करते हैं कि खिन्नी की दो छोटी-छोटी लकड़ियाँ तोड़ लेते हैं। वे लकड़ियाँ पोली होती हैं। उनके एक-एक किनारे पर तिरछा काटकर जोड़ दिया और उसे मिट्टी में सान दिया, अब एक लकड़ी का हिस्सा पानी भरे हुए बर्तन में डाल दिया और अगले निकले हुए हिस्से को थोड़ा हवा से खींच दिया जाये तो उससे पानी झरने लगता है। और अपने आप इतना पानी झरेगा कि सारा बर्तन खाली हो जायेगा। तो वह पानी किसने झराया? वहाँ कुछ ऊँचाई की भी बात नहीं है कि जैसे आजकल की टंकी ऊंची रहती है तो नल भी उतने ऊँचे चढ़कर पानी दे देगा। सर्वस्व मान भाव पर रखा है, लेकिन पहली बार का जो पानी का खिंचाव है उसकी धारा उत्तर धारा को बढ़ाती रहती है। तो यों ही समझिये कि जिस किसी प्रकार पुरुषार्थ से एक बार धर्म का आंशिक विकास हो तो वह विकास आगे की विकास धारा को बढ़ाता रहेगा। तो धर्म विकास का कारण धर्म विकास हुआ। इन सब प्रकरणों से यह निष्कर्ष निकला कि शुभोपयोग को एकान्ततः धर्म कहकर न विश्लेषित करना और अधर्म कहकर भी उसे विश्लेषित न करना। धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। और उस सम्यग्दर्शन के साथ रहने वाला जो शुभोपयोग है वह यद्यपि रत्नत्रय रूप भाव नहीं है, पर रत्नत्रय का सम्बंध बनाने वाला, रत्नत्रय की पात्रता रखने वाला रत्नत्रय को सुरक्षित बनाने का प्रयोग है, वह शुभोपयोग है, इस कारण उसे अधर्म नहीं कहा जा सकता।

**शुभोपयोग व शुद्धोपयोग में तथा ज्ञानी व अज्ञानी के भाव में अन्तर-** शुभोपयोग का जो खुद स्वरूप है निज वर्तमान, उस स्वरूप की दृष्टि से देखा जाये तो वह धर्म नहीं है। धर्म तो मोह क्षोभ रहित निर्विकार परिणाम होता है, शुभोपयोग में क्षोभ तो है ही। मंद कषाय है, मंद क्षोभ है, क्षोभ का अत्यन्ताभाव नहीं है।



जब कोई पुरुष भक्ति भाव में गद्गद् हो जाता है, रोमांच खड़े हो जाते हैं, अपने को आल्हाद का अनुभव करता है। इतना सब कुछ होने पर भी भीतर में मरोड़ा तो गया वह, क्षोभ तो उसमें हुआ। अब वह क्षोभ जो है वह एक हितपंथ में ले जाने वाला था इसलिए क्षोभ नहीं कहते, पर मन, वचन, काय की चेष्टायें क्षोभ बिना भी हो सकती हैं क्या? होता है किन्हीं के कि जिनके कभी विकार न होगा या जब तक कषाय नहीं हैं, लेकिन जहाँ कषाय भाव है और वहाँ कभी प्रभु भक्ति जगे तो उसमें जो मन, वचन, काय की चेष्टा हुई वह तो क्षोभ बिना नहीं हो सकती। वैसे तो शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि के भी हो सकता, मिथ्यादृष्टि के भी हो सकता, लेकिन मिथ्यादृष्टि के शुभोपयोग का वातावरण और है, सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग का वातावरण और है, और यह अन्तर पड़ता है भीतर ही भीतर। ऊपर से तो जैसे मन, वचन, काय की चेष्टा अज्ञानी की है वैसी ही मन, वचन, काय की चेष्टा ज्ञानी की है। जैसे कोई पुरुष शोक से खा रहा है, तो उसके कौर तोड़ने, खाने, चबाने आदि की सारी बाहरी क्रियायें उस सम्यग्दृष्टि पुरुष की भाँति ही दिखती हैं, पर वस्तुतः उन दोनों की क्रियाओं में बड़ा फर्क है। सम्यग्दृष्टि के तो ज्ञानमय भाव है और मिथ्यादृष्टि के अज्ञानमय भाव का उपयोग है।

**सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि का आशय-** मंदकषाय का मिथ्यादृष्टि के भी हो सकता है और सम्यग्दृष्टि के भी। बल्कि बाहर की प्रवृत्ति से ऐसा अन्तर हो जाये कभी-कभी कि सम्यग्दृष्टि के कषाय तीव्र हो रही है और मिथ्यादृष्टि के कषाय मंद हो रही है, इतने पर भी भीतर क्या हो रहा है, कैसा कर्म बंध हो रहा है, उसमें यह बात न आयगी कि तीव्र कषाय होने से सम्यग्दृष्टि के तीव्र बंध हो और मंद कषाय होने से मिथ्यादृष्टि के सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से मंद बंध हो। बंध का कारण प्रबल मिथ्यात्व भाव है। मिथ्यात्व न होने से जो बंध नहीं हो सकता वह बंध तो हो ही नहीं सकता, चाहे कितनी ही तीव्र कषाय हो और मिथ्यात्व होने से जो बंध हुआ करता है वह बंध रूक ही नहीं सकता, चाहे कितनी ही मंद कषाय हो। कोई दिग्म्बर साधु जो अपने व्रत चारित्र के पालन करने में बहुत सावधान रहता है, मेरी समिति में जरा भी फर्क न आये, मेरे व्रत में रंच भी अतिचार न लगे। मेरे सभी व्रत, संयम निर्दोष अच्छी तरह से पलें, इससे मुक्ति मिलेगी। शत्रु से विरोध भी न करें, क्रोध भी न करें, समता भाव से धन प्राप्त होता है, ये सब बातें उसके आशय में हैं कि मैं मुनि हूँ और मुझे यह काम न करना चाहिए, इस तरह चलना चाहिए, इस बुनियाद पर ऐसे मुनि को कोई मारपीट रहा है अथवा कोल्हू में भी पेल रहा है तो वहाँ भी इस मुनि के यह आशय है कि मुझे यह मुनिपद मिला है, और मुनि को कभी क्रोध न करना चाहिए, चाहे यह कितना ही कष्ट दे रहा हो, क्षमा करना चाहिए, इतना भाव है मंदकषाय का, लेकिन मैं मुनि हूँ, ऐसी पर्यायबुद्धि होने के कारण उसका बंध उस सम्यग्दृष्टि से कितना ही अधिक है जो घर में रहता हुआ विषयों के उपयोग में भी लग रहा है। भीतर की गुत्थी को सुलझा लेना ही एक वास्तविक ज्योति है। यहाँ जिसका परिणाम शुद्ध ज्ञानमय बन गया उसका संसार कट गया समझ लीजिए। जो संसार में रहते हैं उनका बिगाड़ होना अनिवार्य नहीं, हो भी, न भी हो बिगाड़, पर

जिस जीव में संसार रहता है उसका नियम से बिगाड़ रहता है। तो यह शुभोपयोगी सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रह रहा, मगर उसमें संसार नहीं रह रहा और उस कोल्हू में पिलने वाले मुनि के चित्त में संसार रह रहा है। संसार मायने पर्याय। इसका क्या विकास है दुनिया में? सब परिणमन। इसी को कहते हैं संसार। इस परिणमन का आधारभूत जो द्रव्य है उसकी नजर रखने वाला ही यहाँ कौन है? तो यह शरीर भी पर्याय है और इसी को निरखकर सोच रहा कि मैंने मुनिपद धारण किया, मुझे क्रोध न करना चाहिए। भीतर की गुत्थी न सुलझ सकने से इतने कष्ट करने पर भी उसे सफलता नहीं मिलती। तब जाने कि धर्म पालन के लिए हमें कहाँ प्रयत्न करना है और क्या अनुभव करना है?

**निश्चयभक्ति व व्यवहारभक्ति-** निश्चय पद्धति से भक्ति का क्या स्वरूप है और व्यवहार पद्धति से भक्ति का क्या स्वरूप है तथा इस भक्ति का प्रयोजन क्या है, उससे फल क्या मिलता है? इन सब बातों के विषय में अब विचार करना है। निश्चयभक्ति तो वह है जहाँ अनादि अनन्त एक स्वरूप सदा मुक्त परमपारिणामिक भावमय का कारणसमयसार स्वरूप निज परमात्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और इस ही स्वरूप से उपयोग की स्थिरता रहती है। वह है निश्चयतः भक्ति। निश्चयभक्ति में किसकी ओर श्रद्धान, ज्ञान और आचरण किया गया है उस तत्त्व पर ध्यान दें। वह तत्त्व हम आप सबका अपने आप में विराजमान है अर्थात् यह ही स्वयं केवल स्वरूप अपने सत्त्व से जो कुछ है उस स्वरूप की यह उपासना है। अब आप समझ लीजिए कि जहाँ हम वीतराग सर्वज्ञ देव परमात्मा की भक्ति करते हैं, जो कर्मों से मुक्त है और अपने ज्ञानानन्द के पूर्ण विकास में रहे, उनकी भक्ति तो व्यवहारभक्ति है। कितना पवित्र स्वरूप, किन्तु है वह परपदार्थ, अतएव उसकी उपासना व्यवहारभक्ति है, और निश्चयभक्ति में अपने आप में विराजमान भाव की उपासना है। तो इससे यह अंदाज लगायें कि आपमें स्वयं में कितना उत्कृष्ट तत्त्व बसा हुआ है। और वास्तविकता भी यही है कि वह निज सहज परमात्मतत्त्व की उपासना से ही संवर निर्जरा और मोक्ष होता है। तो यह निज तत्त्व है अनादि अनन्त। इस मुझ सत् को किसने बनाया? यह मैं सत् कैसे मिट सकूँ? जो हूँ सो सदा से हूँ, सदाकाल तक हूँ। और वह एक स्वरूप है। अब जो नाना स्वरूप हो रहे, अब तक हुए हैं उन स्वरूपों की दृष्टि न देना, किन्तु इनका जो स्रोत है, आधार है अथवा जिसके सत्त्व पर कुछ साधनों से ये विडम्बनायें बन रही हैं उस सहज तत्त्व पर दृष्टि देना है, वह तो एक स्वरूप है। कोई पदार्थ है तो अपने आप है और अपने आप जो कुछ है वह सब विशुद्ध है। वहाँ परकृत कोई भेद नहीं, भेदकृत कोई भेद नहीं। वह तो एक स्वरूप है।

**सहज परमात्मतत्त्व-** इस प्रसंग में जिसकी उपासना से निश्चयभक्ति बनती है उस सहज परमात्मतत्त्व की बात कह रहे हैं कि वह एक स्वरूप है, सदा मुक्त है। कुछ लोग एक ईश्वर ऐसा मानते हैं कि जो सदाशिव है, कभी बंधन में ही न था, वह एक ईश्वर है और उसके अलावा जितने भी भगवान परमात्मा ईश्वर बनते हैं वे सब कभी से बनते हैं और कभी तक ही परमात्मा रहेंगे, सदा न रहेंगे। यह सदाशिव जो कि अन्य दार्शनिकों ने माना है जब यह एगड़ाई लेगा तो उन सब मुक्तों को ढकेल देगा और संसार में फिर

जन्म मरण करेगा। इस तरह का निर्णय कर रखा है कुछ दार्शनिकों ने। बात यहाँ यह निरखना है कि दर्शन के नाम पर किसी ने कुछ भी कल्पना कर रखी हो, आखिर उसका कोई न कोई भीतर में सूक्ष्म थोड़ा बहुत आधार होगा। एकदम मूल से बिल्कुल गलत बात पर कल्पना नहीं उठती। यह कल्पना उनके क्यों जगी कि है कोई सदाशिव ईश्वर, जो सारे जगत की सृष्टि का कर्ता हो। तो कल्पना में बढ़-बढ़ करके उन्होंने क्या किया, उस पर तो चर्चा नहीं करना है, मगर यह निरखिये कि यह आत्मा स्वयं सदाशिव है। अर्थात् जो स्वरूप है अपने सत्त्व के कारण जो कुछ इसका सहज भाव है वह सदा मुक्त है। कोई भी सत् किसी से बँधा हुआ नहीं है। वह सबसे निराला है। कोई भी सत् स्वयं अपने स्वभाव की ओर में विकारी नहीं है, वह अविकारी है। सर्वजीवों में जो सहज परमात्मतत्त्व है, शुद्ध चैतन्य स्वरूप है वह तो सदा मुक्त है, सदाशिव है, सदा कल्याणमय है।

**सृष्टि का आधारभूत तत्त्व-** अब देखिये सर्व चमत्कारों का मूल तो यही है ना! अब उस पर क्या बीती? क्या हो रहा, क्या ढंग बना लिया कि यह सब संसार की सृष्टि बन रही। इस सृष्टि में इस सारी सृष्टि को कोई एक सत् करता नहीं, किन्तु जितने अनन्त जीव हैं वे सभी के सभी अपने आपकी सृष्टि के कर्ता हैं। और जो कुछ यहाँ दिख रहे हैं पत्थर, खम्भा, काठ, लोहा आदिक ये रूप आये कहाँ से? ये रूप इस ही सदाशिव के स्रोत से आये हैं, इस ही की सृष्टि में आये हैं। अगर जीव का सम्बंध न होता तो ये पत्थर, काठ आदिक रूप बन कैसे पाते? पृथ्वी में जीव था, पेड़ में जीव था तो ये बड़े, हरे हुए और इनका यह रूप बना। तो चेतन और अचेतन सभी सृष्टियों का आधार यह जीव रहा ना, और जीव का स्वरूप एक है। यद्यपि जीव नाना हैं, अनन्त हैं, मगर स्वरूप दृष्टि से जब देखा तो एक स्वरूप हैं। जैसे समुद्र में जल नाना है। एक बिन्दु एक-एक जल है, लेकिन समस्त बिन्दुओं का स्वरूप ही जब नजर में रहता है तो वहाँ एक नजर आता है। तो इन सब जीवों का स्वरूप दृष्टि में एक तत्त्व नजर आया। जिसको सदाशिव या सदा मुक्त शब्द से कह लीजिए। वह सदाशिव सदा मुक्त अनादि अनन्त एक सहज परमात्मतत्त्व सर्व जीवों में अन्तःप्रकाशमान है। उसे जो देख लेता है उसका भला हो जाता है। जो उसको नहीं तक पाता है वह अंधेरे में रहकर विकल्प करता हुआ संसार में रुलता रहता है।

**कारणसमयसार-** जिसकी उपासना को यहाँ परमभक्ति कहा जा रहा है उस तत्त्व की चर्चा चल रही है। वह परमपारिणामिक भाव स्वरूप है। पारिणामिक शब्द का अर्थ क्या है कि परिणाम ही है प्रयोजन जिसका, उस भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं। पर्याय करते रहना ही है प्रयोजन जिसका, उस तत्त्व को पारिणामिक भाव कहते हैं। इस लक्षण से जितने प्रकाश नजर आ रहे हैं, जो सत् है उसका काम है निरन्तर परिणामन करते रहना और परिणामन करते हुए में जितने भी परिणामन हैं उन सब परिणामनों का जो आधार है, उन परिणामनों में जो ध्रुवतत्त्व है उसको कहते हैं पारिणामिक भाव। और वही निरपेक्ष रूप से देखा गया न, अतएव विशेषण साथ में लगा देते है परमा। ऐसा पारिणामिक भावमय यह सहज परमात्मतत्त्व है, इसको

कारणसमयसार भी कहते हैं। कारणसमयसार और कार्यसमयसार ये दो शब्द हैं। कार्यसमयसार का अर्थ है परमात्मा जो प्रकट हो गया है। अरहंत और सिद्ध ये कार्यसमयसार हैं। जो वीतराग सर्वज्ञ बन गया है अर्थात् कार्य बन चुका है, पूर्ण समयसार एकदम प्रकट हो गया है उस आत्मा को कहते हैं कार्यसमयसार। और कारणसमयसार दो प्रकार से देखा जायेगा, एक तो कार्यसमयसार होने से पहले जो अवस्था है उसको कारणसमयसार कहते हैं। जैसे 12वें गुणस्थान की अवस्था। उसके बाद ही तो जिनेन्द्र बनते हैं। तो कारणसमयसार हुआ क्षीणमोह गुणस्थान। यह तो हुई विशेष योग्यता की बात। अब दो बातें और समझना है कि ऐसा कार्यसमयसार कौन जीव बनता है, कौन द्रव्य बनता है? इसका जो उत्तर आयेगा वह है कारणसमयसार। अरहंत और सिद्ध कौन बनता है? आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल आदिक बनते हैं क्या? नहीं। जीव बनता है, आत्मा बनता है। तो कार्यसमयसार होने की कारणता जीव में है। यों सामान्यतया कारणसमयसार जीव कहलायेगा। एक इस दृष्टि से जीव कारणसमयसार है। दूसरी बात यह तकना है कि वह कौनसा तत्त्व है, जिसका आलम्बन लेने से कार्यसमयसार प्रकट होता है? वह तत्त्व है यह सहज चैतन्य स्वरूप। जिसका आश्रय करने से, उपयोग करने से, जिसमें स्थिरता होने से जीव का कल्याण लाभ होता है। कार्यसमयसारपना प्रकट होता है। जिसका आलम्बन लेने से कार्यसमयसारपना बनता है उस तत्त्व को कहते हैं कारणसमयसार। तो यह सहज परमात्मतत्त्व, जिसकी उपासना करना परमभक्ति है, वह है कारणसमयसार।

**निश्चयभक्ति के विषयभूत सहज परमात्मतत्त्व की अन्तःप्रकाशमानता**—यह सहज परमात्मतत्त्व अपने आप में विराजमान है। जैसे घी दूध में बना हुआ है, अन्तःप्रकाशमान है, आँखों नहीं दिखता और स्वाद में भी न आयेगा, उसका व्यवहार भी न बन पायेगा, लेकिन उसके पारखी लोग बता देते हैं कि इस दूध में इतना घी निकलेगा और इस दूध में इतना। तो देखिये दूध के अन्तः ही अन्तः समझा ना कुछ, तभी तो पहले से ही उसका निर्णय दे देते हैं। तो जैसे दूध का घी अन्तः है, मगर बाहर व्यक्त नहीं। व्यक्त होने की पद्धति है कुछ जिससे वह व्यक्त हो जाता है, क्या पद्धति है? जामन को संस्कृत करके मथ दिया जाये, तो घी प्रकट हो जाता है, इसी तरह इस जीव को स्वरूपभावना से संस्कृत करके इसे मथ दिया जाये अर्थात् अपने उपयोग द्वारा इसको ग्रहण किया जाये, इसको मिला दिया जाये उपयोग में, तो इस पद्धति से यहाँ यह परमात्मतत्त्व प्रकट हो जाता है। तो ऐसे सहज परमात्मतत्त्व की भक्ति करना निश्चय भक्ति है।

**व्यवहारभक्ति**- उपयोग में अरहंत सिद्ध स्वरूप का सोल्लास रहना, अनुराग सहित बसना इसका नाम है व्यवहारभक्ति। व्यवहारभक्ति की प्रक्रिया में प्रभाव और निश्चय भक्ति की प्रक्रिया में जो प्रभाव होता है उसे स्वयं अनुभव करके निरख सकते हैं। जब ऐसी दृष्टि बनी हो, आकाश में ऊपर समवशरण में जिनेन्द्र विराजमान हैं जिनका चारों ओर से मुख दिखता है, बहुत बड़ी शोभा में गंध कुटी पर अंतरिक्ष विराजमान हैं, चारों ओर से देव देवियाँ नृत्य गान करते चले आ रहे हैं, भक्ति में झूमते नजर आ रहे हैं। अरे यह सब किस बात का आकर्षण है? ये किसी के रिश्तेदार नहीं लगते, किसी से बात नहीं करते, सबसे निराले हैं।

इनके उपयोग में कुछ बसा भी नहीं है पर यह क्या अंधेर हो रहा कि जिनसे कुछ मतलब ही नहीं, यह स्वर्ग खाली हो रहा है, सभी के सभी लोग वहाँ पहुँच रहे हैं, ये मेंढक भी उछलते हुए जा रहे हैं, ये पशु पक्षी भी वहाँ पहुँच रहे हैं, क्या गजब हो रहा है? कौनसा आकर्षण है कि जिसकी वजह से देखो- समवशरण में इतने जीव अंधाधुंध चले आ रहे हैं। थोड़ी देर को अचरज सा लगे, लेकिन जब मर्म समझ में आयेगा तो ये सब अचरज समाप्त हो जायेंगे। अब यह आत्मा सर्व संसार से निराला हो गया। अब इनको किसी में राग द्वेष नहीं है। इतना ज्ञानगुण विकसित है कि जिससे तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हैं पर इनको किसी से कुछ मतलब नहीं। ऐसा निराला हुआ है यह आत्मा। ऐसा कुछ भान ही सब जीवों में आया है अपनी अपनी भाषा में, उसका आकर्षण है यह। तो अब जानिये कि लोगों में राग का जो आकर्षण है उससे अधिक वीतरागता का आकर्षण होता है। उस समय जब उस वीतरागस्वरूप सर्वज्ञस्वरूप उस आत्मतत्त्व पर दृष्टि पहुँचती है, तो साथ ही साथ अपने अपराधों पर भी दृष्टि पहुँचती है और प्रभु से अपनी तुलना की भी दृष्टि जगती है। एक साथ हर्ष और विषाद दोनों मिल करके एक ठंडा और गर्म मिश्रित आँसू बह जाते हैं। यह सब आकर्षण एक अपने भाव का है, प्रभु का नहीं। ऐसा प्रभुस्वरूप जिसके हृदय में बसा है वह स्वयं उस ओर आकर्षित होता चला जाता है।

**भक्ति का प्रभाव-** व्यवहार भक्ति का प्रभाव विलक्षण है और निश्चय भक्ति का प्रभाव तो उससे भी उत्कृष्ट है। जहाँ अपने आप में ही गुप्त ही गुप्त स्वयं शान्त हो जाता है, ऐसा निश्चय भक्ति का स्वरूप है। अब व्यवहार भक्ति में तो नमन, स्तवन, पूजन ये सब चलते हैं, पर परम भक्ति में केवल एक भाव का ही नाता है। तो जीव का उद्धार है परम भक्ति से। व्यवहार भक्ति भी इस परम भक्ति को सम्पन्न बनाने के लिए है। जब इस निश्चय भक्ति में न रहा जाता तो व्यवहार भक्ति में यह ज्ञानी चलता है और वहाँ जब एक अंतःरूप से नहीं रहा जाता तो मन, वचन, काय की ऐसी शुभ चेष्टायें होती हैं। यह व्यवहार भक्ति है परम भक्ति के लिए और परम भक्ति है शिवस्वरूप पाने के लिए। यों भक्ति का स्वरूप है और इसका प्रयोजन सदा के लिए शुद्ध शाश्वत आनन्द पाना है।

**रागादि के कारणों पर विचार-** पूर्वपर्याय सहित पदार्थ उत्तरपर्याय का उपादान है। उपादान कारण के सम्बंध में जो एक सिद्धान्त बना था कि पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उपादान कारण होता है तो विकारी भाव की पूर्व पर्याय है विकारी भाव, सो उससे संयुक्त द्रव्य उपादान कारण है। अब यहाँ देखिये कि इस विकृत दशा में स्थिति क्या गुजर रही है? रागद्वेष रूप अध्यवसान चल रहा है। तो इस प्रकार की जो मलिन पर्याय है उससे सहित द्रव्य उसका उपादान कारण है, क्योंकि अध्यवसान भाव के कारण ये सब विकार परिणमन चल रहे हैं और उस अध्यवसान भाव का कारण क्या है कि वस्तु के असाधारण और स्थायी भावों का अज्ञान है। जो पदार्थ में असाधारण भाव है, जिससे उस द्रव्य की पहचान होती है, जो अन्य द्रव्य में न पाया जाय उस भाव का अज्ञान है, इस कारण रागद्वेषमोह अध्यवसान है। इसको यों भी कह लीजिए कि जो वस्तु का असाधारण भाव

है वही वस्तु का स्थायी भाव है और उन स्थायी भावों का ज्ञान नहीं है, इस कारण से वह अज्ञान राग, मोह आदिक का कारण बनता है और इस अज्ञान का भी कारण क्या है? याने एक असाधारण भाव का अथवा स्थायी भाव का ज्ञान न होना? इस अज्ञान का कारण क्या है? इस अज्ञान का कारण है पूर्ववर्ती अज्ञान दशा। अज्ञान से अज्ञान धारा में चला जा रहा है और निमित्त कारण है कर्म का उदय। दर्शन मोह के उदय से मिथ्याप्रतीति सहित जो परिणाम है, वही अज्ञान दशा है। तो यह नैमित्तिक भाव है। दर्शन मोह के उदय से हुआ है। यह अज्ञान किस रूप है? यह अज्ञान क्या चीज है? स्व और पर में एकत्व का अध्यास रूप है, यही अज्ञान है। यहाँ अज्ञान को ज्ञान का अभाव नहीं समझना, किन्तु निज और पर में एकत्व का अध्यास है यही अज्ञान है, जिसके कारण यह निज को निज और पर को पर नहीं समझ सकता।

**क्रियामाणैकत्वाध्यास-** स्व और पर में जो एकत्व का अध्यास है, जैसे देह को आत्मा मानना, यह स्व और पर के एकत्व का अध्यास है तो ऐसे ऐसे एकत्व के अध्यासों को हम तीन रूपों में देखें- एक तो क्रियामाणैकत्वाध्यास और दूसरा विपच्यमानैकत्वाध्यास, तीसरा ज्ञायमानैकत्वाध्यास। स्व और पर में जो एकता का भ्रम चल रहा है यह तीन रूपों में है। जैसे क्रियमाण एकत्वाध्यास यह है कि मैं मारता हूँ, खाता हूँ, बोलता हूँ, ऐसा जो रागद्वेष गर्भित क्रिया की और अपने आपको एक मान लेना कि मैं कर्ता हूँ, तो क्रिया के करने में एकता जोड़ी। यह हुआ क्रियमाणों में एकत्व का अध्यास। आत्मा तो वास्तव में अहेतुक है और इसकी क्रिया एक जानन क्रिया मात्र है, इसका कार्य केवल जानन है। ऐसे अपने परमार्थ स्वरूप को न समझकर औपाधिक नाना क्रियाओं में अपनी एकता जोड़ना-यह है क्रियामाणैकत्वाध्यास। इस अध्यास में इस जीव ने परक्रिया के साथ अपनी एकता जोड़ी, सो एक इस प्रकार का एकत्वाध्यास इस जीव की अज्ञानदशा का कारण बन रहा है।

**विपच्यमानैकत्वाध्यास-** दूसरा अध्यास है विपच्यमानैकत्वाध्यास याने कर्म के विपाक वश जो परिणति दिख रही है- जैसे मैं मनुष्य हूँ, तिर्यच हूँ, पुण्यमय हूँ, पापमय हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ आदिक जो भाव बन रहे हैं ये हैं सब कर्मों के विपाक और इन पर्यायों में अपने आपकीकी है इस जीव ने एकत्व की कल्पना। तो कर्मोदयजनित अवस्थाओं को और अपने आपको एक मान लेना यह है विपच्यमानैकत्वाध्यास। पहली बात से इसमें क्या फर्क है कि पहले तो करने में इसने अपनी एकता जोड़ी कि मैं करता हूँ। और इस दूसरे अध्यास में कर्मफल में, पर्यायों में एकता जोड़ी, मैं मनुष्य हूँ, अमुक हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ यह है विपच्यमानैकत्वाध्यास क्योंकि आत्मा तो अहेतुक है और ज्ञायकभाव स्वरूप है, लेकिन इन रूपों में न मानकर औपाधिक विभावरूप मानने लगना-यह है विपच्यमानैकत्वाध्यास।

**ज्ञायमानैकत्वाध्यास-** तीसरा अध्यास है एकत्वाध्यास। ज्ञायमान पदार्थ के साथ अपनी एकता जोड़ना सो ज्ञायमानैकत्वाध्यास है। जैसे धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, अन्य जीव पुद्गल आदिक जो ज्ञायमान हो रहे हैं

उनको व अपने आपको एक मानना यह ज्ञायमानैकत्वाध्यास है। जो जानने का विषय है उसमें और अपने को एकमेक कर देना इसे कहते हैं ज्ञायमानैकत्वाध्यास, क्योंकि यह आत्मा तो अहेतुक और एक ज्ञान स्वरूप है, किन्तु ऐसे परमार्थ स्वरूप को न समझकर ज्ञायमान अन्य पदार्थोमय अपने को मान लेना यह मिथ्या आशय इस अध्यास में पड़ा हुआ है। तो यह तीन प्रकार के एकत्वाध्यास से अज्ञानमय दशा बन रही है। करने में एकत्व मानना, मैं खाता हूँ, चलता हूँ, मारता हूँ, दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ। यह एक क्रियमाणैकत्वाध्यास है। कर्म के फल में प्राप्त हुई पर्याय में एकता करना- मैं मनुष्य हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, आदिक यह है विपच्यमानैकत्वाध्यास और जानने में जो पदार्थ आया है उस परद्रव्य में एकता का अध्यास करना, जैसे यह मेरा पुत्र है, मित्र है आदिक रूप दूसरों को अपनाना, यह सब है ज्ञायमानैकत्वाध्यास।

**अज्ञानदशा की अनादिता-** उक्त तीन प्रकार के भावों के कारण यह जीव अज्ञानदशा में चल रहा है। और यह अज्ञानदशा जीव में अनादि से है क्योंकि इस समय की जो अज्ञानदशा है वह पूर्व अज्ञानदशा से है। इसका उपादान पूर्व अज्ञानदशा है। उसका उपादान पूर्व अज्ञानदशा है। इस तरह अज्ञान की संतति अनादि से है। ऐसा नहीं है कि यह आत्मा पहले तो शुद्ध हो, फिर किसी कारण से या अकारण अशुद्ध हुआ हो। तो यह अज्ञानदशा, यह विकारी भाव अनादि से है अनन्त काल तक रहेगी। रागद्वेषादिक जो भी विकारी भाव हैं, जो अनुभवन में आ रहे हैं, जिनके क्षोभ परिणति बीत रही है, अनविच्छिन्न धारा से कम से कम अन्तर्मुहूर्त तो चलता ही है। कितने समय तक रहा एक जाति का विकारी परिणाम? अन्तर्मुहूर्त तक। लेकिन उसके बाद दूसरा विकारी भाव हो जाता है। यों प्रवाह रूप में तब तक चलता रहता है, जब तक कि ज्ञान प्रकाश न जगे और ये रागद्वेष दूर न हों।

**अन्तर्मुहूर्त धाराबद्ध कषाय के उपयोग में विकारकता-** यहाँ राग परिणमन की बात बतायी जा रही है, इसके सम्बंध में एक अन्तर समझ लेना कि आत्मा में रागद्वेष प्रति समय होता रहता है। लेकिन एक समय का रागद्वेष अनुभव में नहीं आ पाता, किन्तु अजघन्य अन्तर्मुहूर्त तक की राग धारा बनती है, वह उपयोग में आती है, वह अनुभव में आया करती है। तो यों अनुभव में आने का कारण यह है कि छद्मस्थ जीवों का उपयोग अन्तर्मुहूर्त में ग्रहण करता है पदार्थ को। केवलज्ञानी का उपयोग एक समय में ही पदार्थ को जान लेता है और छद्मस्थ की जो जानन रूप व्यक्त दशा बनती है, तब ये रागद्वेष अन्तर्मुहूर्त तक के अनुभव में आ पाते हैं। एक समय का राग परिणमन अनुभव में नहीं आता अर्थात् क्षोभ को उत्पन्न नहीं करता। क्षोभ होता है तब, जब ज्ञान में वे विकारीभाव आते हैं। और उपयोग में विकारी भाव आ पाता है अन्तर्मुहूर्त में। तो पदार्थ का परिणमन प्रति समय होता है। यह बात ठीक है, परन्तु विकारी कोई विभाव बद्ध-अवस्था की दशा होने से उसकी वृत्ति अन्तर्मुहूर्त तक चलती है। जैसे किसी जीव ने क्रोध किया तो वह क्रोध करता जा रहा है अन्तर्मुहूर्त तक, तब उस कर्म का, क्रोध का क्षोभ आ पाया। एक समय के क्रोध का क्षोभ नहीं आ पाता। समय मात्र की राग परिणति ज्ञेय होती है। उपयोग में विकारी नहीं होती। यह सब अपने भीतर की परिणति



की बात चल रही है। जो विकार परिणति बन रही है वह अन्तर्मुहूर्त तक धारारूप में चलकर अनुभव में आ पाती है। निरपेक्ष एक समय की राग परिणति क्षोभ को लाने में समर्थ नहीं हो पाती, क्योंकि विकार एक समय की परिणति को ग्रहण ही नहीं कर पा रहा और जिसका उपयोग एक समय की परिणति को ग्रहण करता है वह शुद्ध परमात्मा है। वहाँ क्षोभ की गुंजाइश ही नहीं है। तो अपने आपमें जो विकार का अनुभव जगता है वह विकार का अनुभव अन्तर्मुहूर्त तक चलकर ही जग पाता है।

**अनुभाव्य विकार भाव की योग्य अन्तर्मुहूर्तप्रमाण धारा-** कुछ समय कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं कि एक समय को ही विकार परिणति हो जाये छद्मस्थ के। वह किस समय? जैसे कोई जीव मरकर नरक में जाने को है और मरने से एक समय पहले वह मान कषाय में आ गया। अब एक समय मान कषाय हो पाया इस मनुष्य को और मर गया, सो नारकी बन गया। अब वहाँ क्रोध कषाय का उदय आया तो ऐसी स्थिति में मान कषाय एक समय को रहा, किन्तु उसका क्षोभ नहीं हो पाया। हुआ विकारी भाव, हुआ बंध, मगर अनुभव में जिसे ठसक कहते हैं ऐसी कोई बात आ जाये सो नहीं आ सकती। तो यह विकारी परिणमन प्रति समय तो होता है, पर अनुभव में, क्षोभ में तब आ पाते हैं जब यह विकार अन्तर्मुहूर्त धारा प्रवाह चलता रहता है जो एक समय में राग परिणमन है, है तो सही, पर वह क्षोभ करने वाला विकारी भाव न कहा जायेगा। हाँ, जो अनुभव में विकार आ रहा है, क्षोभ में आ रहा है उसका एक अंश है, फिर भी यह बात नहीं है कि वह पर्याय एक समय की अपने समय में अधूरी हो। वह तो पूर्ण है, पदार्थ में प्रति समय जो भी पर्याय होती है वह अपने समय में परिपूर्ण होती है। तो जैसे छद्मस्थ का एक उपयोग कम से कम अन्तर्मुहूर्त होता है वहाँ भी परिणमन समय-समय का है। इससे समझिये कि विवक्षित कार्यकारी वह उपयोग क्षणिक नहीं, किन्तु नित्य है। हाँ सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय से वह क्षणिक है। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि हम आप जीवों के जब तक ये विकार चल रहे हैं, चलते रहते हैं, धारा प्रवाह चलते हैं, कम से कम धारा वह अन्तर्मुहूर्त तक चलती है। क्रोध करेगा कोई तो एक समय के क्रोध से काम नहीं बनता। असंख्यात समय तक क्रोध करेगा तब उसमें परिणति व्यक्त बनेगी। मुँह बिगड़ जाना, अंग कंपना, भीतर में क्षोभ मचना, ये सब बातें अन्तर्मुहूर्त तक के क्रोध परिणमन से बनेगी। इससे यह समझना कि यह अनुभाव्य विकार धारा प्रवाह चलता रहता है और हमारे दुःख का कारण बनता है।

**लौकिक जनों को विपच्यमानैकत्वाध्यास व क्रियमाणैकत्वाध्यास के तथ्य का अपरिचय-** इस प्रकरण में मुख्य बात समझने के लिए यह लेना है कि हम दुःखी क्यों हैं? हम दुःखी यों हैं कि हम पर में एकत्व का भ्रम किए हुए हैं। और उसी भ्रम के आधार पर यह अज्ञान दशा बढ़ती है। उसी भ्रम के आधार पर ये सब दृष्टियाँ चलती रहती हैं, जो कि भ्रमपूर्ण रहती हैं। तो सर्व विडम्बना का आधार है यह कि पर में हम एकता किए हुए है अपनी। इसको तो बहुत से लोग समझते हैं कि भाई! परिवार में, वैभव में, धन में, घर में, एकता करना कि यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह भ्रम है, मिथ्या है, अज्ञान है। इसे प्रायः बहुत से लोग कह देते हैं और बात



ठीक है, पर जो लोग ऐसा कहते हैं वे भी सही रूप में नहीं समझ पा रहे हैं। जब शुद्ध पदार्थ का ज्ञान हो, परिणतियों का सही परिचय हो तब तो वह समझा, समझिये। फिर तो यह कह रहा है सो मानना ठीक है। थोड़ा-थोड़ा उसको परिचय है कि जो परपदार्थ हैं, परजीव हैं, परद्रव्य हैं उनको अपना न मानना चाहिए। और अपना मानना तो वह भ्रम है, किन्तु दो और पर में एकत्व के अध्यास जो अभी बताये गए इस पर दृष्टि कम है। एक विपच्यमानैकत्वाध्यास और दूसरा क्रियमाण एकत्वाध्यास। मैं तो हूँ एक ज्ञायक भाव स्वरूप और मनुष्य होना, सुखी होना, दुःखी होना, क्रोधी होना, ये सब हैं पुद्गल कर्म का निमित्त पाकर हुए विभाव। इन विभावों के साथ ज्ञायक भाव स्वरूप अपने आत्मा को जोड़ देना कि मैं सुखी हूँ, मैं मनुष्य हूँ, यह कहलाता है विपच्यमान-एकत्वाध्यास। इस भ्रम की ओर दृष्टि जीवों की नहीं है, यह उसका भ्रम था, ऐसा कोई माने तो भ्रम है। ऐसी दृष्टि नहीं जग पा रही और थोड़े रूप में कोई यह कह भी दे तो क्रियमाण- एकत्वाध्यास की ओर तो दृष्टि ही बिल्कुल नहीं है। मैं चलता हूँ, खाता हूँ, बोलता हूँ, यों इसमें जो क्रिया है सोचने की, खाने की, पीने की, यह क्रिया मेरी नहीं है। मैं हूँ केवल एक जानन क्रिया रूपा। मैं हूँ ज्ञान स्वभाव, तो मेरी क्रिया केवल जानन ही होगी। तो जानन क्रिया मात्र यह मैं हूँ, यों न समझकर यह अज्ञानी इस क्रिया में एकत्व का अध्यास किए हुए है। यों क्रिया में एकत्व का अध्यास करना यह भ्रम है, इसको बहुत कम लोग समझ पाते हैं और इसी पर कहते हैं कि मैंने यों किया, मैं यों कर सकता हूँ, यों कर देता हूँ, तो यों कर्तृत्व का अभिमान जगता है। और विपच्यमान-एकत्वाध्यास से सम्पन्नता का अध्यास जगता है। मैं इतने धन वाला हूँ, ऐसे रूप वाला हूँ, इतने परिवार वाला हूँ आदि। तो ये सब पर के साथ जो एकत्व की कल्पना के लगाव हैं ये लगाव ही इस जीव को दुःखकारी हैं। इसमें आत्मा का अकल्याण है और इसी से इसकी अज्ञानदशा चल रही है और यह संसार में रूलता है।

इस प्रसंग में यह बात बतायी जा रही है कि रागद्वेषादिक परिणमन इस जीव में जो चल रहे हैं उनका अनुभव अन्तर्मुहूर्त तक उस पर्याय की धारा चलती है, तब हो पाता है अर्थात् एक समय मात्र जो किसी भी विभाव का परिणमन है उतना मात्र अनुभव में नहीं आ पाता, अर्थात् राग के फल में क्षोभ होना, द्वेष के फल में आकुलता होना, ये परिणाम अन्तर्मुहूर्त तक की रागद्वेष की धारा में बन पाते हैं। तो इस प्रसंग में यह प्रश्न हो सकता है कि राग पर्याय तो प्रतिक्षण होती रहती है। प्रतिसमय भिन्न-भिन्न राग पर्याय चलती है और साथ ही वह औपाधिक भी है, कर्मोदय का निमित्त पाकर हुई है, फिर वह पर्याय अध्यवसाय उत्पन्न करने वाली क्यों न हुई? जीव में क्रोधादिक विपाक को क्यों नहीं उत्पन्न कर देती? इस जिज्ञासा का भी समाधान दिया गया था कि होता तो है प्रतिसमय में रागपरिणमन, किन्तु उस प्रतिसमय के रागपरिणमन का, एक समय के परिणमन का अनुभव नहीं होता। विकारी अवश्य है, मगर ऐसी विकृत पर्याय की कुछ धारा चलने पर क्षोभ का उपयोग में आरम्भ हो पाता है। यद्यपि वह पर्याय एक समय की अपने समय में पूर्ण है, अधूरी नहीं है लेकिन जैसे छद्मस्थ का एक उपयोग अन्तर्मुहूर्त की धारा में बन पाता है, होता है वहाँ भी

प्रति समय में एक-एक परिणमन, मगर किसी चीज की जानकारी करना है तो उस जानकारी के सिलसिले में इसका ज्ञान एक समय में नहीं हो पाता। तो जैसे जानन परिणमन इस विभाव पर्याय वाले जीव के प्रतिसमय होता है लेकिन उपयोग बन पाता है अन्तर्मुहूर्त में। ऐसे ही रागपरिणमन प्रतिसमय में पूर्ण-पूर्ण एक-एक होता है, किन्तु निरपेक्ष पूर्वापर असंस्कृत समय मात्र के राग का अनुभव क्षोभ नहीं बन पाता। अन्तर्मुहूर्त धारा में वह क्षोभ बन पाता है। ऐसा होने का कारण यह है कि उपयोग अन्तर्मुहूर्त में बन पाता है। भले ही लगता हो ऐसा कि जल्दी उपयोग हुआ। किसी पुरुष ने पीठ पीछे खड़े होकर जरा सा कांटा चुभोया, अब उस कांटा चुभे की जानकारी में उसको अन्तर्मुहूर्त लगा और सोचिये- एक समय कितना होता है? बहुत ही जल्दी आँख की पलक नीचे दबा ली जाय तो एक बार पलक गिरने में जितना समय लगता है उसमें असंख्यात आवली होती हैं और एक आवली में अनगिनते समय होते हैं, उनमें से एक समय के राग की बात कही जा रही है, वह क्षोभ में कैसे आयेगी? एक बात और समझना है- स्वतंत्रतया एक समय का परिणमन इन छद्मस्थ जीवों के अनुभव में न आयेगा। पूर्वापर संस्कार सहित और उस धारा में जो परिणमन अनुभव होगा वह क्षोभ का कारण हो सकता है। और ऐसे राग परिणमन होते भी नहीं प्रायः। होता है तो धारा में अन्तर्मुहूर्त चलता है, अनेक समय चलता है। मान, माया, लोभ, इच्छा आदिक सभी विभावों की यही बात है। हां कुछ स्थितियाँ ऐसी अवश्य हैं कि जिन स्थितियों में कोई कषाय जगे एक समय का परिणमन हो, दूसरे समय न रहे, ऐसी स्थिति कब होती है, सो भी बतायेंगे और साथ ही यह जानना है कि ऐसी स्थिति का कभी कोई बन जाय एक समय की स्थिति वाला तो उसका अनुभव नहीं होता याने उपयोग में आकर क्षोभ विकल्प मचाये यह बात नहीं बन पाती। ऐसी स्थितियाँ दो समय में होती हैं, एक तो कोई मनुष्य जो मान कषाय में ही आने को था और एकदम कोई गर्जना गर्जी, धमाका हुआ या डरा दिया तो वहाँ क्रोध कषायउत्पन्न हो गयी। इसको कहते हैं व्याघात। अर्थात् मानकषाय होने को थी, वह मानकषाय एक समय को हो पायी, उसी समय व्याघात हो गया, प्रतिकूल ऐसा कारण मिले कि उसके क्रोध आ गया तो कषाय तो एक समय में एक ही होगी। चारों कषायें एक समय में एक साथ नहीं भोगी जातीं। तो उस समय में मान एक समय को रहा और क्रोध जग गया तो एक समय के मान का क्षोभ तो नहीं हो पाया, किन्तु जगा क्रोध, उसका क्षोभ अनुभव में आया तो उस समय की स्थिति के मान कषाय का उठता क्या है और उससे लाभ क्या है? एक स्थिति ऐसी होती है कि जिस जीव को जिस भव में जन्म लेना होता है उस भव में जो कषाय जगती है, जिसका प्रायः ऐसा नियम है कि नरक भव में जन्म ले तो पहले क्रोध कषाय होगी, मनुष्य भव में जन्म ले तो मानकषाय होगी, देव भव में जन्म ले, तो लोभ कषाय होगी और तिर्यन्च भव में जन्म ले तो माया कषाय होगी। कोई मनुष्य मरकर नरक में जाने को था। तो मरण से पहले कोई मान या माया आदिक कषाय हुई। और मरण हुआ तब क्रोध जग गया तो ऐसे समय में भी एक समय की कषाय हो पाती है, उससे भी कोई लाभ नहीं। क्षोभ तो उसके बराबर ही चला। सो ऐसी जो एक समय की स्थितियों में कषाय रहती है यह अपवाद मात्र है। बहुत

कम बात है यह। तब एक समय की पर्याय होती है और एक समय की राग पर्याय न होने दे, उससे उपयोग हटाये तो राग मिट जायेगा। हम कल्याण में आ जायेंगे, ऐसी बात रटते रहने में लाभ क्या है? कुछ लोग ऐसा कहते हैं। एक-एक समय का राग परिणमन है और एक समय का राग परिणमन न होने दे, फिर कभी न होगा। यद्यपि प्रायः यह बात सही है कि एक समय को भी यदि रागद्वेषादिक विभाव परिणमन न हों तो कल्याण सदा का हो जायेगा। लेकिन वर्तमानकाल में अपने आपके बारे में यह श्रद्धान करना कि हम आप सबके एक-एक समय की राग परिणति होती है वह क्षोभ मचाती है। उसे न होने दे तो आगे न होगा। सो भैया ! ऐसा हो सकने की यहाँ स्थिति कहाँ है? प्रथम तो यह कि एक समय की रागपर्याय विकार नहीं करती, क्षोभ नहीं मचाती, किन्तु धारा प्रवाह अनेक समय तक चले उसके विकार अनुभव जग पाता है। दूसरी बात, एक समय का राग परिणमन हमारे न हो, इसका उपाय क्या सोचा? क्या ऐसी चर्चा करते रहना ही उपाय है? कोई यह सोचे कि चलो मरते समय में एक समय के लिए कोई कषाय रह भी पाती है ऐसा भी हो जाता है अथवा व्याघात के प्रसंग में एक समय की कषाय पर्याय रह जाती है, यह हो जाता है, लेकिन उस विकारी भाव को सर्वथा एक समय मात्र को मान मानकर अथवा कहकर अपना समय व्यतीत करे यह कोई विवेक की बात नहीं है। विवेक तो इसमें है कि रागादिक पर्यायों से, विभावों से रहित केवल शुद्ध चैतन्य मात्र अपने आपको निहारें। एक समय की हो, अन्तर्मुहूर्त की हो, सभी प्रकार की पर्यायों से रहित मैं चैतन्य स्वभाव मात्र हूँ, इस तरह के निहारने में, चिन्तन में तो लाभ है, मगर इन विभावों में लाभ नहीं है। देखिये- जब किसी कषाय का प्रारम्भ होते ही विघात हो जाता है तब क्या हुआ? कभी एक समय की अन्य कषाय के बाद क्रोध जग गया, विघात हुआ, कभी 2-4-10 समय तक, अनेक समय तक अन्य कषाय जग रही थी और व्याघात जग गया, क्रोध जग गया तो यों दो एक आदिक समय की कषाय का विघात होने पर क्रोध ही तो जगा। अच्छी बात क्या हुई? और, इस समय जो हम आप चर्चा कर रहे हैं, सुन रहे हैं या जो भी मनन किया करते हैं, समझते हैं उनका कहीं व्याघात तो नहीं हो रहा, तो उन चर्चा करने वालों को उस चर्चा से लाभ क्या मिला? एक समय मात्र के परिणाम का हम आप उपयोग नहीं कर पाते, क्योंकि उपयोग भी एक समय में नहीं बन पाता हम आपका। हाँ भगवान का, केवली का ज्ञान इतना निर्मल है कि वह स्वतंत्रतया एक-एक समय का परिणमन भी ज्ञान करता है और स्वतंत्र-स्वतंत्र, अणु-अणु इन सबका भी उनके ज्ञान चलता रहता है।

**द्रव्य की अपेक्षा बद्धता व अबद्धता की स्थिति पर विचार-** इस प्रसंग में एक यह बात नई समझिये कि बद्ध अवस्था और अबद्ध अवस्था में बहुत से अन्तर पाये जाते हैं। इतना ही नहीं है कि स्थितिकृत भेद हो। जैसे छद्मस्थ जीवों का ज्ञान अन्तर्मुहूर्त में उपयुक्त हो पाता है और केवली का ज्ञानोपयोग एक-एक समय में बनता है। तो केवल समय की अपेक्षा का ही फर्क हुआ बद्ध जीव में और अबद्ध जीव में, सो बात नहीं, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों अपेक्षाओं से अन्तर है। जैसे शुद्ध पर्याय अबद्ध एक द्रव्य में होती है। यहाँ

द्रव्यकृत अन्तर बतला रहे हैं। एक द्रव्य में ही अबद्ध अवस्था होती है, एक द्रव्य में ही शुद्ध परिणमन होता है। जहाँ दो द्रव्यों का संयोग है, मेल है, वहाँ अबद्धदशा नहीं, वहाँ बन्धन है, शुद्ध पर्याय न होगी। यह तो द्रव्यकृत अन्तर है। उदाहरण में ले लो- ये नाना स्कंध जो दिख रहे हैं ये शुद्ध हैं या अशुद्ध हैं? अशुद्ध पर्याय में हैं क्योंकि अनेक परमाणुओं का बन्धन है, पिण्ड है। एक परमाणु रहे, केवल एक द्रव्य रहे तो शुद्ध पर्याय होगी। इस समय संसारी जीवों में चूँकि यह अनेक द्रव्यों का मेल हो रहा इसलिए शुद्ध पर्याय नहीं कह सकते। जैसे एक जीव है और उसके साथ अनन्त शरीर परमाणु है, और अनन्त कर्म परमाणु है, तैजस परमाणु हैं, मनोवर्गणायें हैं, यों अनेक द्रव्यों का यह बन रहा है एक याने बन्धन दशा। तो यहाँ शुद्ध पर्याय की आशा न रखें। शुद्ध पर्याय होगी केवल असंपृक्त एक द्रव्य में।

**क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा बद्धता व अबद्धता की स्थिति पर विचार-** अब क्षेत्र की अपेक्षा बद्धता व अबद्धता का विचार कीजिए। जहाँ दो या अनेक क्षेत्र होंगे अर्थात् क्षेत्रावगाह बन गया, क्षेत्र बन्धन बन गया वहाँ शुद्ध पर्याय न बनेगी, अशुद्ध पर्याय है। जैसे क्षेत्र की अपेक्षा यहीं देख लो, जीव के क्षेत्र में शरीर है, शरीर के क्षेत्र में जीव है, स्व क्षेत्र की बात नहीं कह रहे। स्वक्षेत्र निज में है मगर अवगाह की अपेक्षा कह रहे और वह बन्धन रूप है, इस कारण वहाँ शुद्ध पर्याय की आशा नहीं है। काल की अपेक्षा यह बात है। जितनी अशुद्ध पर्यायें होती हैं वे पूर्वापर संस्कार रहित स्वतंत्रतया एक समय को ही हों, सो नहीं हो सकता। यदि विभावपर्याय है, अशुद्ध परिणति है तो पूर्वापर संस्कार है और अनेक समयों तक उनकी धारा रहती है। जिस पर्याय के अनुभवन के लिए पूर्वापर संस्कार की अपेक्षा हुई वह पर्याय शुद्ध नहीं, अशुद्ध है। केवली भगवान को अपने प्रतिसमय के एक एक परिणमन का अनुभव चलता रहता है, वहाँ पूर्वापर पर्याय की अपेक्षा नहीं रहती, संस्कार ही नहीं। तो इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा दो-दो अनेकानेक का सम्बंध है। अब भाव की अपेक्षा देखिये- एक ही भाव में अर्थात् अखण्ड हुए, सम हुए अथवा जघन्य भाव हुए। जैसे जघन्य गुण वाला परमाणु है उसमें बन्धन नहीं होता। बताया गया ना कि जघन्य गुण वाले परमाणु में बन्धन नहीं होता, वह भाव की अपेक्षा बात है। जहाँ जघन्य भाव है। एक भाव है, अखण्ड भाव है, वहाँ बन्धन नहीं और जहाँ समभाव है शुद्ध परमात्मा के, वहाँ बन्धन नहीं। जहाँ विषमभाव है वहाँ बन्धन है। तो एकरूपभाव में बन्धन नहीं, अनेकरूप भाव की स्थिति में बन्धन है।

**एकत्वनिश्चयगत वस्तु में बन्धन का अभाव-** बद्ध अवस्था की पर्याय का नियम है कि बद्ध पर्याय होना अनेक द्रव्यों के संयोग होने पर होता है। विभक्त, अलग, पृथक स्वतंत्र एक द्रव्य रह जाये, तो विभावपर्यायबद्धपर्याय नहीं होती। बद्धपर्याय दो क्षेत्रों के बन्धन में होती है। दो क्षेत्रों का परस्पर अवगाह हो तो बन्धन होता है। स्वयं स्वयं के अवगाह में रहे और दूसरे क्षेत्र से सम्बंध न हो वहाँ बन्धन नहीं, विभाव नहीं। केवल एक द्रव्य के ही प्रदेश रहें उसमें अन्य द्रव्य के प्रदेश समाप्त न हों तो बद्ध पर्याय नहीं बनती। काल की अपेक्षा देखें तो बद्धपर्याय संस्कार रूप में अनेक समय तक चलती है। केवल एक ही समय तक रहे और दूसरी विपक्ष जाति

की पर्याय आ जाये, ऐसी कोई बद्धपर्याय नहीं है। यहाँ यदि एक समय को मान कषाय रही थी तो क्रोध जग गया, आखिर कषाय ही तो रही। यों ही अनेक डिग्री के भावों में बद्धपर्याय होती है। सम हो, अखण्ड हो, उस भाव में बद्धपर्याय नहीं होती, इसका कारण है कि बन्धन एकत्व को प्राप्त वस्तु में नहीं होता। कोई पदार्थ अपने आपके स्वरूप के एकत्व में हो, उसका बन्धन नहीं। देखिये- ग्रन्थों में यह भी वर्णन आता है कि बन्ध पर्याय में एकता हो जाती याने जब दो पदार्थों का बन्धन होता है तब एकत्व हो जाता, उस एकत्व की बात नहीं कह रहे। दो पदार्थों में एकत्व आया, उसकी बात नहीं कह रहे। वहाँ तो बन्धन होता है। पर एक पदार्थ अपने आपके एकत्व में आ जाये वहाँ बन्धन नहीं होता। जहाँ अनेक द्रव्यों का बन्धन हो रहा है वहाँ वे सभी द्रव्य अपने एकत्व को छोड़ देते हैं।

**एकत्व में आने की शिक्षा-** इस प्रकरण में हम आपको यह शिक्षा लेना है कि हम यदि अपने एकत्व में आ जायें कि मैं अकेला हूँ। कैसा अकेला? शरीर सहित देखकर समझे कोई कि यह मैं हूँ और अकेला हूँ तो वह मूढ़ पुरुषों का व्यवहार है। जब कभी कोई रोने लगता कि हाय मेरा कोई सहाय नहीं, मैं तो अकेला हूँ तो वह अपना अकेलापन नहीं सोच पा रहा। वह तो मात्र व्यवहार में, मोह में वैसा कह रहा है। जो खुद मैं हूँ, जिस सत्त्व में मैं हूँ, केवल उस ही रूप में होऊँ, उसकी बात कही जा रही है। तो केवल यहाँ द्रव्य अपने आपके ही एकत्व में आये, यों हमें अपने आपका एकत्व स्वरूप दृष्टि में लेना चाहिए। मैं अकेला हूँ, कुटुम्ब, मित्र भी मेरा कुछ नहीं, घर वैभव भी कुछ नहीं, मैं अकेला हूँ, यह शरीर भी मेरा कुछ नहीं, मैं अकेला हूँ, भीतर जो रागद्वेष विकार विचार उत्पन्न होते हैं, ये भी मेरे नहीं। मैं अकेला हूँ, और यह भीतर जो भी अबुद्धिपूर्वक तरंग उठ रही वह भी मेरी नहीं। मैं तो अकेला हूँ। जब ये सब मैं न रहा तो और मैं अकेला क्या हूँ? वह मैं अकेला हुआ केवल एक शुद्ध चैतन्यमात्र। तो इस एकत्व में कोई जीव आ जाये तो उसका बन्धन नहीं है। और इस एकत्व से च्युत होने पर जीव में एकता लगायेगा, उस विकल्प से इस जीव को हानि है, जन्म मरण है। जन्म मरण से बढ़कर अपने आप पर और क्या विपदा? एक जन्म की कुछ सुविधायें सोचकर सुखी होना चाहते और जन्म मरण करते हैं, ये सब बड़े संकट है। तब संकटों के मेटने का उपाय बनावें। उसका उपाय यही है- जन्म मरण रहित, शरीर रहित, कषाय रहित शुद्ध चैतन्य मात्र, जिसका काम मात्र प्रतिभास है, ऐसा मैं हूँ, इस एकत्व की ओर आयें तो बन्धन मिटेंगे और अबंधदशा होगी।

**सहज स्वभाव के लक्ष्य में निर्विकल्पता का अवसर-** इस प्रसंग में इतनी बात समझना है कि समयवर्ती राग ज्ञेय तो होता है पर विकार करने वाला अर्थात् अनुभव में क्षोभ मचाने वाला नहीं बनता। इस कारण से समयवर्ती राग है, उस राग से चित्त हटाओ, ऐसा कहकर समय व्यतीत करना उचित नहीं। यह उपाय राग को हटाने का नहीं है। वह तो ज्ञेय तत्त्व है, पर राग से लक्ष्य हटाने का क्या उपाय है? इस पर अब चिन्तन करियेगा। आत्मा के सहज स्वभावका लक्ष्य होना ही राग के अभाव का उपाय है। आत्मा का सहज स्वभाव जानना है, प्रतिभास है अर्थात् चैतन्य प्रकाश है, क्योंकि चैतन्य के अतिरिक्त जो रागद्वेषादिक उत्पन्न होते हैं

वे सब नैमित्तिक भाव हैं। सहज भाव तो वह है जो पर की अपेक्षा न रखकर संयोग बिना स्वयं होता है। आत्मा में समय-समय का जो विभाव परिणमन है वह सहज स्वभाव नहीं है। उस पर किसी भी प्रकार के लक्ष्य से निर्विकल्पता नहीं आती, किन्तु विकल्प विकार रहित चैतन्य मात्र जो सहज स्वभाव है उसका लक्ष्य होने से निर्विकल्पता जगती है। विशुद्ध समय मात्र की परिणति की निरख में परिणति उपयोग में न रहकर आत्मस्वभाव उपयोग में हो जाता है तब निर्विकल्पता जगती है। अपने आपके एकत्व स्वभाव की ओर दृष्टि करना चाहिए। यद्यपि वह बात तथ्य की है कि कोई पदार्थ किसी भी दूसरे पदार्थ का परिणमन नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिणमता है, कोई भी अन्य द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य में अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नहीं दे पाता, इस कारण पदार्थ अपने उत्पाद व्यय करने में स्वतंत्र है।

**निमित्तसन्निधान में भी प्रत्येक पदार्थ की स्वतः एव परिणति-** अब जरा ऐसा भी विचार कीजिए कि कोई पदार्थ निमित्त है, ठीक है, मगर निमित्त क्या स्वयं की परिणति से परिणमते हुए पदार्थ को करता है या स्वयं न परिणमते हुए पदार्थ का परिणमन करता है? जो स्वयं नहीं परिणम रहा, जिसमें परिणमन हो नहीं रहा उसको दूसरा करेगा क्या? जो स्वयं परिणम रहा है अपनी परिणति से, उसमें दूसरा परिणति देगा क्या? हां निमित्त के सन्निधान में उपादान अपना कार्य करता है, इसका अर्थ यह है कि निमित्त के सन्निधान में उपादान अपना प्रभाव प्रकट करता है। बाह्य निमित्त की उपस्थिति में भी परिणमने वाले पदार्थ, उपादान अपने चतुष्टय के परिणमन से ही परिणमते हैं, यह उनकी स्वतंत्रता है इसी कारण प्रत्येक पदार्थ स्वाधीन है, कोई किसी के अधीन नहीं है। जैसे जलती हुई अग्नि पर, चूल्हे पर पानी भरा बर्तन रखा है, अग्नि निमित्त का सन्निधान है, पर पानी जो गर्म हो रहा है वहाँ एक पानी ही गर्म हो रहा है, अपनी परिणति से गर्म हो रहा है, अपने ठंडे परिणमन को छोड़कर गर्म परिणमन में आ रहा है, हाँ निमित्त वहाँ अग्नि अवश्य है। संताप करने वाले पदार्थ का सन्निधान हुए बिना जल गर्म नहीं हो सकता। लेकिन जल जो गर्म रूप परिणम रहा है वह अग्नि के परिणमन से नहीं परिणम रहा, किन्तु अपने परिणमन से परिणम रहा है। कभी हाथ से कोई चीज उठाकर दूसरी जगह धर दी, तो अपने हाथ ने हाथ में ही काम किया और हाथ के संयोग में वह पदार्थ था तो क्रियाशील हाथ का निमित्त पाकर वह पदार्थ भी दूसरी जगह पहुंचा, मगर हाथ की क्रिया हाथ में है और उस चीज की क्रिया उस चीज में है।

**परिणमन और जानन की अपनी-अपनी स्वतंत्रता-** ऐसा भी कोई सोचते हैं कि जो कुछ होना है वह सब सर्वज्ञदेव के द्वारा ज्ञात है। तो जो जाना सो ही तो होगा, फिर उसमें निमित्त ने क्या किया? यह सोचना उनका इकतरफा है। जो पदार्थ जिस विधि से, जिस प्रकार से परिणमता है, परिणम रहा है, भगवान का ज्ञान स्पष्ट निर्मल है इसलिए उनके ज्ञान में (जानने में) वह पदार्थ आ गया। इतने मात्र से निमित्त नैमित्तिक भाव की पद्धति हो जाती है। और जानने भर की बात कहें तो जैसे कुछ भी जाना तो सर्वज्ञदेव ने वैसा ही तो जाना। जैसा निमित्त योग से हो रहा। सब कुछ जाना, सब एक साथ ज्ञात हुआ, इस कारण यह प्रश्न नहीं

रहता कि यदि निमित्त का सम्बंध नहीं मिला तो कार्य रूक जायेगा या सर्वज्ञ का ज्ञान झूठा हो जायेगा। किसी भी परिणमन को जानना ही है सर्वज्ञ तब जब कि जिस विधि से जहाँ जो कार्य होना है। यहाँ इस तरह व्याप्ति न लेना कि सर्वज्ञ देव ने जाना इस कारण से यह बात हुई, इसमें इस तरह से व्याप्ति बनेगी कि जैसा पदार्थ में जिस तरह से परिणमन होगा वैसा सर्वज्ञदेव ने जाना। इस प्रसंग में यह भी निरखते जाइये कि अधीनता किसी से भी किसी की नहीं है, किन्तु जैसे पदार्थ अपने चतुष्टय से परिणमते हैं वैसे ही सर्वज्ञ भी अपने चतुष्टय से परिणमता है। जानने मात्र से वस्तु के कार्य में पराधीनता नहीं होती। ऐसा नहीं है कि सर्वज्ञदेव ने जाना इस कारण वस्तु को परिणमन करना पड़ता है और ऐसा भी नहीं है कि वस्तु परिणमता है इस कारण सर्वज्ञ को जानना पड़ता है। सर्वज्ञ का जानना सर्वज्ञ के ज्ञान का काम है, पदार्थ का परिणमना पदार्थ के परिणमन का काम है।

**विषयभूत निमित्त की अपेक्षा से ज्ञेय की ज्ञान से व्याप्ति-** विषयभूत निमित्त की अपेक्षा यह बात विशेष है कि जब जैसा जो पदार्थ है, था, है, होगा, उसे सर्वज्ञ जानता है। विषयभूत की अपेक्षा यों न लगेगी व्याप्ति कि सर्वज्ञदेव ने जिसको जैसा जाना वैसा परिणमना होगा, क्योंकि वस्तु के परिणमन के लिए सर्वज्ञ का ज्ञान किसी भी प्रकार का निमित्त नहीं होता, किन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान के लिए ये पदार्थ विषयभूत निमित्त होते हैं। इस कारण इस तरह से यह व्याप्ति लगेगी कि जो पदार्थ जैसा परिणमना है, परिणमेगा, वैसा भगवान जानते हैं, पर ऐसी व्याप्ति न लगेगी कि सर्वज्ञ देव ने जाना इस कारण वस्तु इस प्रकार परिणमती है और परिणमेगी। और वस्तुतः ज्ञान अपने में अपना काम कर रहा है, पदार्थ अपने में अपना काम कर रहा है। ज्ञान और ज्ञेय में भी कार्य कारण भाव नहीं है कि ज्ञान के कारण पदार्थ में कार्य होता हो या पदार्थ के कार्य के कारण भगवान ने अपना ज्ञान बनाया हो। बात वहाँ स्पष्ट यह है कि जब जहाँ जैसा होना है, जैसा होगा वह सब स्पष्ट ज्ञान में आ जाता है।

**छद्मस्थ के ज्ञान से प्रभुज्ञान की गुणितरूप में भी तुलना की अशक्यता-** भैया ! जैसा हम स्पष्ट समझते हैं यह तो है इन्द्रिय की करतूत। हम पदार्थ को स्पष्ट नहीं जान पा रहे, मगर स्पष्टतः जान रहे हैं। जैसे आँखों से हमने जो पदार्थ देखा उस पदार्थ की सारी बात हमें कहां ज्ञात है? एक तरफ का हिस्सा और वह भी एक रूप में, जैसे चक्षुइन्द्रिय से जाना तो केवल रूप की पद्धति से जाना, उसमें जो गंध, स्पर्श आदिक है वे ज्ञान में नहीं आये। तो पदार्थ स्पष्ट हमारे ज्ञान में आ नहीं पाता, किन्तु स्पष्ट सा होता है इस कारण इसे सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। जिसे हम स्पष्ट कहते हैं वह तो इन्द्रिय की करतूत है, इस कारण से हम सब नहीं जान पाते। एकदेश समझ पाते हैं, किन्तु सर्वज्ञदेव के ज्ञान में तो एक साथ समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से सारे विषय प्रतिभास में आ जाते हैं। तो हम अपने ज्ञान से सर्वज्ञ के ज्ञान की तुलना नहीं कर सकते। ऐसी भी हम बात नहीं कह सकते कि जैसा हम जानते उससे अनन्त गुना अधिक भगवान जानते। हमारे जानने की पद्धति और है और प्रभु के जानने की पद्धति और है। जैसे हम आनन्द के



सम्बन्ध में यह नहीं कह सकते कि जिस प्रकार से जो सुख हमको है उससे अनन्त गुना अधिक सुख भगवान में है, क्योंकि हमारे सुख की जाति और है, क्षोभ भरी है और भगवान के आनन्द की जाति और है। यदि हम अपने सुख से अनन्त गुना सुख भगवान का कहें तो उस सुख में जितने क्षोभ मच रहे हैं उससे अनन्त गुना क्षोभ भगवान का सिद्ध हो जायेगा, पर हमारा सुख और जाति का है, भगवान का आनन्द स्वाधीन सहज है, उसकी तुलना नहीं कर सकते। जहाँ ग्रन्थों में यह बताया कि तीनों काल में जितने इन्द्र, चक्रवर्ती तथा सभी बड़े बड़े भाग्यवान पुरुष हैं, उन सबका सुख जितना हो, उनसे भी कई गुना सुख भगवान का है। यह मोही रागी जीवों के समझाने के लिए कहा है। जो सुख को इष्ट मानते हैं उनको समझाने के लिए कहा है। वस्तुतः यह सुख तो विपदाओं से भरा हुआ है। इस सुख से गुणित रूप में भगवान के सुख की तुलना नहीं की जा सकती। इसी तरह हमारा जो ज्ञान है, वह एक नैमित्तिक ज्ञान है, इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है, इस कारण से अपने ज्ञान से प्रभु के ज्ञान की तुलना नहीं कर सकते।

**प्रभुज्ञान के निर्विकल्पता व स्वतंत्रता-** भगवान के ज्ञान में तो जो पदार्थ है वह प्रतिभास में आ रहा है, पर उनके यह विकल्प नहीं होता कि इसके बाद यह है, यह इतना लम्बा है, इतना चौड़ा है। जो है, जैसा है वैसा ज्ञान में आता है, पदार्थों के परिणमन में प्रभु का ज्ञान निमित्त नहीं है। बल्कि इस ओर से लगा सकते हैं कि प्रभु के ज्ञान से परिणमन में पदार्थ उदासीन विषयभूत निमित्त है, अर्थात् ये पदार्थ अबद्ध होकर निमित्त है, ये पदार्थ असंयुक्त होकर निमित्त है। अथवा यह कहो कि उनके ज्ञान में क्या ज्ञेय आया? कुछ ज्ञेयाकार तो बने, तो जिसके अनुरूप ज्ञेयाकार बने वह विषयभूत निमित्त हो गया, पर निमित्त के परिणमन के लिए प्रभु का ज्ञान किसी भी प्रकार का निमित्त नहीं बनता। कल्पना करो कि यदि सर्वज्ञ न होता तो क्या पदार्थों के परिणमन नहीं होते और कल्पना करो कि यदि ज्ञेय पदार्थ न होते तो क्या ज्ञान का तद्विषयक ज्ञेयाकार रूप परिणमन न होता। यह बात तो बन जायेगी, क्योंकि जो असत् है वह प्रभु के ज्ञान में कहाँ ज्ञात है? किन्तु यह नियम न बनेगा कि यदि सर्वज्ञ न जानते तो पदार्थों का परिणमन न होता। यद्यपि सर्वज्ञ भी जान रहें, पदार्थों का परिणमन भी हो रहा, मगर कार्य निर्णय में इस प्रकार की खोज की जा रही है और स्वयं सत् है, उसका परिणमन उसकी स्वतंत्रता से उसकी पर्याय में हो रहा। यों भगवान के ज्ञान में भगवान की स्वतंत्रता का ज्ञान परिणमन हो रहा और पदार्थ के परिणमन में पदार्थों के कारण परिणमन हो रहा।

**सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में कार्यकारण का अभाव-** सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय से तो किसी भी अवस्था का कोई कारण नहीं। प्रत्येक पदार्थ पर्याय अपने अस्तित्व में विकसित है, सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय से परखने पर कार्यकारण भाव किसी का किसी अन्य में नहीं होता, खुद का खुद में कार्यकारण क्या होगा, क्योंकि यह नय एक समय की पर्याय को दृष्टि में लेता है। अब यह जिज्ञासा हो सकती है कि राग पर्याय के लिए पूर्ववर्ती राग पर्याय जो कारण होगा तो भिन्न कारण तो है परन्तु ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में कारण नहीं, क्योंकि पूर्व पर्याय तो नष्ट हो चुकी। जो नष्ट है वह कैसे कारण हो सकता है? सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय एक पर्याय को ही ग्रहण



करता है। देखिये- इस सम्बंध में नष्ट होना और उत्पाद होना ये कोई दो बातें नहीं हैं, और उसे यों भी नहीं कह सकते कि पहले नष्ट होना होता है, पीछे उत्पाद होना होता है, दोनों एक ही समय में होते हैं। जैसे घड़े का फूटना, खपरियों का बनना, ये कोई दो काम नहीं है कि घड़ा पहले फूटा तब खपरिया बनीं, किन्तु खपरियों का बनना ही घड़े का फूटना कहलाता, घड़े का फूटना ही खपरियों का बनना कहलाता। लेकिन हमारी समझ में ऐसा आता है कि पहले नष्ट होता है, पीछे उत्पन्न होता है, पहले पर्याय नष्ट हो ले तब पर्याय उत्पन्न होगी, यों लगता है और इसी आधार पर यह चर्चा चला करती है। वस्तुतः उत्पाद उत्पाद ही है, इससे विलीन होना अपने आप सिद्ध हो जाता है।

**प्रति समय परिणमन व छद्मस्थ के उपयोग में अन्तर्मुहूर्त प्रवाह का ग्रहण-** देखिये- प्रत्येक एक पर्याय एक समयमात्र को ही होती है। तो जितने (अनन्त) समय हैं उतनी ही परिणतियां द्रव्य की होती हैं। हां इतनी बात अवश्य है कि जो रागादिक भाव हैं वे उपयोग रूप में अनुभव में आते हैं तब, जब अनेक समय तक की राग पर्यायों की धारा चले। ऋजुसूत्रनय तो पृथक् स्वतंत्र एक पर्याय मात्र को जानता ना, एक पर्याय अर्थात् ऐसी पर्याय जिसके की और भेद न हो सकें। एक समय का भेद नहीं, सो एक समय में होने वाली परिणति का भी भेद नहीं, स्वभाव पर्याय एक ही समय मात्र की स्थिति रखता है, वह भी ऋजुसूत्रनय का विषय है और विकार रागादिक जो निरवच्छेद अन्तर्मुहूर्त तक धारा बनाये रहता है, यह भी ऋजुसूत्रनय का विषय है। अब जो एक समयवर्ती राग ज्ञान में आया, उस एक समय की पर्याय को हमारा ज्ञान जान नहीं सकता याने उपयोग में ले नहीं सकता। उपयोग चूंकि अन्तर्मुहूर्त में बनता है तो वह भी अन्तर्मुहूर्त विभाव पर्याय को ग्रहण करके ही अपने में प्रभाव ला सकेगा। एक समय की पर्याय को तो प्रभु केवली जानते हैं, पर युक्ति से हम जानते हैं कि यदि प्रति समय में परिणमन न हो तो मिलकर भी परिणमन नहीं हो सकता। जैसे कोई बालक एक वर्ष में दो अंगुल बढ़ गया तो उससे हम युक्तिपूर्वक जानते हैं कि यह रात दिन प्रतिघंटे कुछ न कुछ बढ़ता ही रहा। पर आप बता सकते हैं कि एक घंटे में वह कितना बढ़ा? या किसी बालक को देखकर वहाँ निगाह कर सकते हैं कि एक घंटे में कितना बढ़ गया? नहीं जान सकते, लेकिन एक वर्ष में बढ़ा हुआ देखकर हम युक्ति से समझ जाते हैं। इस प्रकार इस समयवर्ती पर्याय को हम युक्ति से समझ जाते है, तो वह एक समय का राग परिणमन हमारे में विकार याने बिगाड़ या क्षोभ को उत्पन्न नहीं कर पाता, किन्तु अन्तर्मुहूर्त धारा में होने का उपयोग इस क्षोभ को उत्पन्न करता है। तो ऐसा यह समयवर्ती राग भी विभाव है और यह निमित्त पाकर हुआ है।

**ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में कार्यकारणभाव विशेष्यविशेषणभाव की व्यवस्था की असंभूति-** यद्यपि एक समयवर्ती परिणति को निरखने पर सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में कार्य कारण भाव नहीं जगता, इसलिए प्रत्येक पर्याय अहेतुक है, लेकिन सर्वथा यह बात न लगा लेना। विभाव पर्याय तो सहेतुक ही है, पर की परिणति लेकर नहीं, किन्तु पर का निमित्त पाकर विभाव परिणमन हुआ करता है। यदि ऐसा नहीं माना जा सकता तो

विभाव पर्याय सब वस्तु के स्वभाव बन जायेंगे। लेकिन ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में केवल वर्तमान पर्याय ज्ञेय है तो ऋजुसूत्रनय की दृष्टि जब दो समयों की पर्यायों को ग्रहण नहीं करता, सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय जब दो द्रव्यों को नहीं जानता तो सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में पर्याय सहेतुक नहीं बनती, क्योंकि वह अखण्ड एक पर्याय को जानता है, दो द्रव्यों को नहीं जानता, दो कालों को नहीं जानता, और ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में पर्याय कार्यकारण रहित जंचा, इतना ही नहीं, यह तो है ही, पर विशेष्य विशेषण भाव भी ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में नहीं हैं। और दो चीजों को, दो बातों को ज्ञान में लेना, वहाँ विशेष्यविशेषण कहा।

किसी ने कह दिया कि नीला कमल तो नील नील में है और कमल कमल में है, जो जो नील है वे सब कमल नहीं और जो कमल है वे सब नील नहीं। तो ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में विशेष्यविशेषण भाव भी नहीं बनता और कार्यकारण भाव भी नहीं बनता। यह तो नय का विषय है। नयों में क्या-क्या ज्ञेय होता है, इसको निरखकर हमें सर्व प्रकार से निर्णय नहीं बनाना है। प्रमाण से निर्णय बना करता है। नय तो अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करता है। हमें उक्त सब बातों से यह शिक्षा ग्रहण करना है कि हममें जो विभाव होते हैं वे कर्मोदय का निमित्त पाकर होते हैं इस कारण से वे विकृत हैं, हेय हैं, दुःखरूप हैं। उनसे हमें अपना लक्ष्य हटाना है और अपने आपमें विराजमान अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्य स्वभाव को दृष्टि में लेना है, इस विधि से हम अपने कल्याण में प्रगति कर सकते हैं। इसके विरुद्ध पर के अपनाने में या अपनी कषायों में रमने में हम शान्ति नहीं पा सकते।

**रागादिक परिणमन की प्रतिसमय परिपूर्णता व अहेतुकता की दृष्टि-** जीव में जो रागादिक विभाव परिणमन होते हैं उसके सम्बंध में अभी तक जो वर्णन किया गया है, निष्कर्ष रूप में कुछ इन बातों को समझ लेना चाहिए। पहली बात- रागादिक भाव भी प्रति समय में एक-एक परिपूर्ण परिणमन है और यों ही यथाविधि होता रहता है। लेकिन उपयोग चूंकि अन्तर्मुहूर्त की स्थिति को लिए हुए है। छद्मस्थों के उपयोग का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त बताया गया है, इस कारण से प्रतिसमय का राग परिणमन जीव के अनुभवन में तो आ रहा है, परन्तु वह उपयोग में, अन्तर्मुहूर्त न आ पाने से विकार करने वाला नहीं हो पाता। अन्तर्मुहूर्त की धारा में आया राग उपयोग में होगा। दूसरी बात वह प्रति समय का राग परिणमन भी सहेतुक है, अहेतुक नहीं है, लेकिन एक समय का राग परिणमन ऋजुसूत्रनय का विषय है और ऋजुसूत्रनय किसी दूसरे को देखता नहीं है, इस कारण ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में वहाँ हेतु नहीं मिलता, किन्तु वहाँ यही विदित होता है कि प्रति समय में राग परिणमन अपने परिणमन सत्त्व से होता रहता है। उसका कोई दूसरा कारण नहीं। ऋजुसूत्रनय के आशय में कोई किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता। फिर भी चूंकि यह औपाधिक परिणमन है अतएव युक्ति से यह सिद्ध होता है कि यह राग परिणमन अहेतुक नहीं है, किन्तु समुदाय का निमित्त पाकर होता है। अतएव सहेतुक है, औपाधिक है।

**रागादिक परिणमन की अवधि की दृष्टि-** विभाव परिणमन के सम्बंध में तीसरी बात यह है कि कोई सा भी विभाव परिणमन केवल एक समय का ही हो और दूसरे समय में वह न रहे, उसका प्रतिपक्षी दूसरा विभाव आ जाये ऐसा प्रायः होता नहीं है। केवल व्याघात और मरण समय इन दो स्थितियों में कभी-कभी यह अवसर आता है कि राग कषाय आदिक विभाव परिणमन एक समय की स्थिति को लिए हुए हो अथवा कुछ और समय स्थिति को लिए हुए हो, उसकी धारा योग्य अन्तर्मुहूर्त तक चले, ऐसा नहीं भी होता। सो उस सम्बंध में भी विचार करिये कि हित क्या है? किसी जीव के मरण समय से एक समय पहले समय मात्र को मान कषाय का उदय आ पाया और मरण समय नरक भव में जायेगा तो क्रोध कषाय का उदय आयेगा तो क्रोध का उदय आने से देखो मान कषाय अब एक समय को ही हो पाया, तो हो पाये। विभाव धारा तो नहीं मिटी। विभाव में एक विशिष्ट विभाव की धारा नहीं चली, तो इस धारा के न चलने से जीव का कुछ हित नहीं हुआ। वह तो मरा और नरक गति में गया। हित क्या पाया? अथवा व्याघात की बात देखिये तो व्याघात क्रोध कषाय का कभी नहीं होता, शेष तीन कषायों का होता है। व्याघात हुआ करता है कोई उपद्रव वाली स्थिति आने पर तो उपद्रव जैसी स्थिति आने पर क्रोध कषाय जगा करता है। भले ही कभी व्यक्त रूप में मान कषाय जग जाये। जैसे किसी ने एकदम कोई कठिन आवाज की या कोई चीज एकदम पटक दी, कुछ भी किया तो एकदम उस स्थिति में क्रोध आया। मनुष्य में फिर थोड़ी देर बाद मान आ जायेगा कि यह लड़का बड़ा खराब है। यह हम बुजुर्गों की कोई बात नहीं रखता। मगर व्याघात की स्थिति के कार्य आया करते हैं सो व्याघात हुआ कार्य। ऐसी स्थिति में पूर्व कोई कषाय एक समय के लिए आयी तो उसमें कल्याण क्या हुआ? विभाव धारा में अन्तर नहीं आया। विशिष्ट विभाव न चल सके, इतनी ही बात हुई। तो व्याघात में भी कोई जीव का कल्याण नहीं। तो यह समझना चाहिए कि यह राग परिणमन धारा उस योग्य अन्तर्मुहूर्त चलकर ही उपयोग में आकर क्षोभ का कारण बनता है।

**अविकार भाव के अवलम्बन की श्रेयस्करता-** यहाँ प्रासंगिक बात यह जानना चाहिए कि जो लोग विकार भाव को यह एक समयवर्ती परिणमन है इतना ही मात्र निरखकर और इस ही चर्चा में समय बिताकर स्वभाव दृष्टि का अवसर नहीं आने देते, अथवा अन्य तत्त्व विचार की बात नहीं आने देते उससे लाभ कुछ नहीं है। प्रत्येक समय के एक एक परिपूर्ण परिणमन होते हैं, विकारी हो अथवा अविकारी। अविकार परिणमन की तो यह चर्चा नहीं, विकारी परिणमन प्रति समय परिपूर्ण होता है लेकिन उपयोग में आये तब यह क्षोभ का कारण बनता है। इतनी ही बात बतायी जा रही है। विकारी भाव पर उपयोग लगाते हुए कोई विशुद्धि चाहे तो यह ठीक नहीं। सम्बंध मात्र की परिणति की दृष्टि रखे कोई तो उसमें राग पर्याय ही नहीं रही। हम आप एक समय की राग पर्याय को जान नहीं सकते। केवल एक हल्ला ही मचाते हैं। उसे जो जान रहे हैं वे युक्ति से जान रहे हैं। किन्तु साक्षात् जैसा जानना होता है, ऐसा जानन तो केवली प्रभु के ही हो सकता है। जिसका उपयोग एक समय में परिपूर्ण होता है और पदार्थ का जानकार हो जाता है उसके ही उपयोग में समय समय

मात्र का परिणमन ज्ञात हो पाता है। छद्मस्थ के विशिष्टजातीय धाराबद्ध विकार की जघन्य स्थिति योग्य अन्तर्मुहूर्त है। तब वहाँ एक समय की राग पर्याय का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

जैसे एक द्रव्य की दृष्टि कर रहे हों जब, तब दूसरा द्रव्य संयुक्त नहीं विदित होता। जब अखण्ड निज प्रदेश की दृष्टि रख रहा हो कोई तो अन्य प्रदेश सम्बन्ध नजर नहीं आता। जैसे एक लोकाकाश में जीव पुद्गल आदिक सभी द्रव्य प्रत्येक प्रदेश पर मिलेंगे। यहाँ कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ कोई एक द्रव्य न रहे, बाकी रहे। छहों जाति के द्रव्य प्रत्येक प्रदेश पर रहते हैं। अब वहाँ रहते तो सभी हैं लेकिन हम एक परमाणुमात्र द्रव्य को ही ज्ञान में ले रहे हैं तो उस समय दूसरा द्रव्य संयुक्त नजर न आयेगा। जिस क्षेत्र में आकाश है याने लोकाकाश उस ही क्षेत्र में छहों द्रव्य हैं। तो यों एक निर्णायक दृष्टि से यह नजर आयेगा कि सभी पदार्थों का यहाँ एक क्षेत्रावगाह हो रहा है। सभी जब एक प्रदेश पर हैं तो सबके प्रदेश में सबकी उपस्थिति बनी हुई है, लेकिन जब किसी एक द्रव्य के प्रदेश को ही दृष्टि में लिया जा रहा है उस समय में किसी अन्य के क्षेत्रों का प्रदेश का अवगाह दृष्टि में न आयेगा। अथवा जैसे किसी एक भाव की दृष्टि की जा रही हो तो वहाँ विषमपना नजर नहीं आया। इस ही प्रकार जब एक समय का परिणमन दृष्टि में लिया जा रहा हो तो वहाँ किसी प्रकार का विभाव पर्याय बंध पर्याय नहीं ठहरता है। हम यहाँ नयवाद से, श्रुतज्ञान से, युक्तियों से एक समय के परिणमन को जानते हैं, हम उसकी चर्चा करते हैं, मगर उपयोग में ग्रहण करने की बात भिन्न है, केवल एक समय की स्थिति को साक्षात् प्रत्यक्ष जैसे कि आँखों से हम रूप को देखते हैं, इस तरह एक समय की स्थिति को हमारा उपयोग ग्रहण नहीं करता। हम यहाँ व्यवहार में रूप रंगों को भी देखते हैं तो उसकी जानकारी में भी योग्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपयोग लग लगकर जानकारी करने लगते हैं। एक समय तो इतना सूक्ष्म काल है, जैसे बताया गया है कि कोई मनुष्य आँख की पलक जल्दी-जल्दी गिराये तो एक पलक के गिरने में जितना समय लगता है उसमें होती है असंख्यात आवली और एक आवली में होते है असंख्याते समय। उनमें से एक समय की परिणति की बात कोई सोच रहा हो तो क्या वह स्पष्ट जान लेता है? युक्तियों से समझता है। तो दृष्टि विशुद्ध बनाने के लिए समयवर्ती राग है, बस कोई ज्यादा काम नहीं करना है मुक्ति पाने के लिए। एक समय को ही तो राग होता है। उस एक समय के राग को हटा दें। सो भैया ! यह केवल चर्चा की ही बात रह जायेगी। मुक्ति मार्ग का प्रयत्न न बन पायेगा। उसका प्रयत्न है विकार रहित अखण्ड निज चैतन्य स्वभाव का अवलम्बन। निज चैतन्य स्वभाव का अवलम्बन ही हमें मोक्ष मार्ग में बढ़ायेगा। रागादिक परिणमन के सम्बंध में पाँचवी बात यह सोचिये कि राग का क्षय होता है और परमात्म पद प्राप्त होता है, वीतराग पद प्राप्त होता है, तो वहाँ भी जो राग का क्षय होता है वह एक समय की स्थिति को लिए हुए ही राग हो, उसका क्षय होता हो, सो बात नहीं, किन्तु राग तो एक समय का ही होता है। इसमें दूसरी बात नहीं है, किन्तु धाराबद्ध वह योग्य अन्तर्मुहूर्त तक चला हुआ होता है जिसके क्षय के बाद वीतराग अवस्था प्राप्त होती है। तो यों राग भाव के सम्बंध में कुछ बातों का स्पष्टीकरण किया गया है।

**विभाव के कर्तृत्व का विचार-** अब यह निर्णय करते हैं कि इस विकार का उपादान कर्ता कौन है? इस सम्बंध में यद्यपि पहले चर्चा कर दी गई थी, लेकिन एक बात जब यह उपस्थित होती है कि विकार का अथवा सभी पर्यायों का सामान्यतया आधार यह आत्मा है और आत्मा और स्वभाव ये कोई पृथक नहीं हैं, तब क्या रागादिक विकार का उपादान कर्ता आत्मस्वभाव होता है? इसका समाधान देते हुए विचार करते हैं। **विकार का उपादान कर्ता आत्मस्वभावनहीं है।** आत्मा तो है, यह बात तो कही जायेगी, क्योंकि आत्मा में ही वह राग विकार आया है, लेकिन आत्मस्वभाव को राग विकार का कर्ता नहीं कह सकते। यद्यपि वह स्वभाव इस समय इस पर्याय रूप में व्यक्त आया है। इतना होने पर भी विकार का कर्ता स्वभाव को यों नहीं कहा जा सकता कि ऐसा कहने पर यह विकार भी स्वभाव कहलाने लगेगा। सो आत्मस्वभाव तो शाश्वत है और विकार भी जब स्वभाव कहलाने लगे तो विकार भी शाश्वत बन जायेगा, और तब यह बात बन बैठेगी कि विकार को यह आत्मस्वभाव तीनों काल करता रहता है। है कोई एक ऐसा दर्शन जिसमें यह माना गया कि जीव में से विकार कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। अनन्त काल तक भी दूर न होगा। जब उनसे कोई पूछता है कि फिर इस जीव को क्या कभी मुक्ति नहीं होती तो उस दर्शन की ओर से यह उत्तर दिया जाता है कि मुक्ति तो होती है, पर मुक्ति का अर्थ यह है कि विकार दब गया, और तपश्चरण आदिक करने से वे विकार उपशान्त हो जाते हैं, उन्हें मुक्ति मिल जाती है, लेकिन मुक्त जीव दो प्रकार के माने हैं उस दर्शन ने। एक सदामुक्त और एक उपायमुक्त। सदामुक्त एक ईश्वर वह जगत सृष्टि का कर्ता है और उपायमुक्त, यह मुक्त बन तो गया, किन्तु बहुत समय के बाद वह सदामुक्त ईश्वर उन्हें ढकेलेगा और फिर वे संसार में जन्म मरण फिर करने लगेंगे। है एक दर्शन जो विकार का कभी विनाश नहीं मानता, लेकिन यह बात युक्तिसंगत नहीं। इसमें वस्तु का और वस्तुस्वभाव का लोप हो जाये। वस्तु का स्वयं निज स्वभाव क्या है? वह स्वभाव हो सकेगा स्वयंसिद्ध अहेतुक, लेकिन विकार भाव क्या स्वयंसिद्ध और अहेतुक है? यह बात प्रकट जाहिर है। यदि अहेतुक होता कोई तो वह एक समान रहता। सहेतुक बातें ही विषम हुआ करती हैं और जो बिना कारण के कुछ हो वह तो एक समान ही रहेगा, लेकिन यहाँ रागादिक विकार एक समान नजर आते ही नहीं। प्रत्यक्ष बात है कोई विशेष रागी है, कोई मंद रागी है। तो जब यहाँ राग की विषमतायें देखी जा रही है, हीनाधिकता देखी जा रही है तो सिद्ध है कि ये सब सहेतुक हैं। जैसा प्रबल हेतु मिलता है वैसा ही प्रबल राग होता है। जैसा निर्बल हेतु होता है उसका राग मंद होता है। तो राग भाव सहेतुक सिद्ध हुआ, फिर वह सदा रहेगा, यह कैसे हो सकेगा? जो बात जिस हेतु से होकर होती है वह सदा नहीं रह सकती। हेतु मिटा कि वह भी मिटा। तो जब कर्मों का क्षय हो गया तो राग भाव बिल्कुल ही मिट गया। तो विकार का कर्ता आत्मस्वभाव को नहीं कह सकते।

**आत्म द्रव्य के विकार कर्तृत्व की ऐकान्तिकता का प्रतिषेध-** अब एक यह जिज्ञासा बन सकती कि जब आत्मस्वभाव नहीं तो आत्मद्रव्य तो विकार का कर्ता होगा? देखिये- इसके उत्तर में इतना समझ लीजिए कि

विकार का उपादान आत्मा तो है पर विकार का उपादान कर्ता आत्मद्रव्य नहीं। तो आत्मद्रव्य और आत्मस्वभाव दोनों की एक ही स्थिति है। आत्मद्रव्य भी विकार का कर्ता नहीं, क्योंकि आत्मद्रव्य भी ध्रुव है और उसे कर्ता मान लेने पर फिर यह आत्मद्रव्य आत्मविकार का तीन काल कर्ता रहेगा। तब विकार का उपादान कर्ता क्या है? देखिये- सामान्यपने से यह कहा जा सकता कि आत्मा रागादि का उपादान कर्ता है। इसमें अभी कोई विश्लेषण नहीं किया गया। यहाँ कहे गए वृत्त का विश्लेषण करने पर कहा जायेगा कि विकार का कर्ता विकृत उपयोग है, आत्मा नहीं। यद्यपि आत्मा में ही राग और सामान्यतया विकृत विकार भी आत्मा है, लेकिन आत्मा, आत्मद्रव्य, आत्मस्वभाव इनको विकार का कर्ता कहा जायेगा तो यह तो शाश्वत है, तब विकार भी शाश्वत हो बैठेगा।

**विकृतोपयोग की विभावकर्तृता-** अब चलिये निरखने कि विकार का कर्ता कौन है? विकार का कर्ता है विकृत उपयोग। इसमें भी उपयोग को विकार का कर्ता न समझना, क्योंकि उपयोग भी त्रिकाल रहने वाली बात है, किन्तु विकृत उपयोग विकार का कर्ता है, उपयोग सामान्य विकार का कर्ता नहीं। यदि उपयोग सामान्य को विकार का कर्ता माना जायेगा तो आत्मद्रव्य व आत्म स्वभाव की भाँति उपयोग सामान्य शाश्वत है तब विकार भी शाश्वत बन बैठेगा। तब यह निष्कर्ष समझिये कि विकार को करने वाला विकृत उपयोग है अथवा यों कहो कि आत्मा का योग और उपयोग विकार का कारण है, आत्मद्रव्य नहीं। यहाँ उपयोग का विकार में आना यह उपयोग की अशक्ति से हुआ है। उपयोग सबल नहीं है, इस कारण से उपयोग विकृत होता है और उससे फिर रागादिक विकार बनते हैं।

**उपयोग की अशक्ति का कारण-** यह उपयोग की अशक्ति कैसे हुई? इसको यदि स्थूलतया इन शब्दों में कह दिया जाय तो बात जरा शीघ्र समझ में आयेगी कि जब उपयोग अनेक समयों की अशुद्ध अवस्था के अनुभव में रहता है तब उपयोग की अशक्ति होती है। देखिये- इस संसारी जीव का उपयोग अनादिकाल से लेकर अब तक यही करता आया है कि अनेक समयों का विभाव उपयोग में लेकर क्षुब्ध होता आया, बस यह इसकी करतूत उपयोग की अशक्ति का कारण बन जाता है। यह बात अनादि संतति से चली आ रही है कि उपयोग की अशक्ति से रागादिक विकार और विकार भाव होने से उपयोग की अशक्ति और उससे यह विकार और उससे अशक्ति आती चली जा रही है। यही अनादि काल से होता चला आ रहा है। देखिये- यहाँ भी तथ्य तो यही है जिसको मना नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक पदार्थ में समय-समय में एक-एक परिणमन होता है। चाहे अशुद्ध परिणमन हो रहा हो, चाहे शुद्ध परिणमन हो रहा हो, बात सब जगह एक है कि प्रति समय में एक-एक परिणमन होता है, लेकिन उपयोग में जो क्षोभ मचता है, आकुलता मचती है वह किस प्रकार मच रही है? वह बात यहाँ दिखायी जा रही। सर्वथा एक समय का राग मानकर बंध मोक्ष की व्यवस्था मिटा देना इससे कोई सिद्धि नहीं है। होता है प्रति समय में परिणमन, मगर सम्बंध दिखता है। कितनी धारा में यह जीव उन्मत्त बन पाता है।

तत्त्वावगम से उपलभ्य व कृत्य शिक्षण- निमित्त, उपादान, विकारी भाव, विकारी भाव की उत्पत्ति का साधक आदिक बातों पर विचार करके अब अन्त में यह समझना है कि हमको क्या करना चाहिए जिससे भला हो? सब तरफ से समझ लो कि इस नय से यह बात है, इस नय से यह बात है, निश्चय से यों है, व्यवहार से यों है। अब हमारा कर्तव्य क्या है सो सुनो ! व्यवहार का विरोध न करके मध्यस्थ बनिये। विरोध से मध्यस्थता खतम हो जाती है, और व्यवहारनय की दृष्टि में वह बात सत्य भी तो है। फिर उससे द्वेष क्यों? अतः व्यवहारनय का विरोध न करके मध्यस्थ बनना और फिर निश्चयनय का आलम्बन लेकर निश्चयनय के विषयभूत चैतन्य-स्वभाव पर उपयोग देना, इन उपायों से मोहादिक अशुद्ध भाव दूर होंगे। और मोहादिक अशुद्ध भाव दूर हुए कि आत्मा का कल्याण है। इस स्थिति में जब कि व्यवहारनय से पास होकर निश्चयनय में आये, तब निश्चयनय से जो लाभ उठाया गया उस स्थिति में निश्चयनय का विकल्प भी टूट जायेगा और वहाँ शुद्ध सहज स्वरस अनुभव में आयेगा। बस ऐसे ही आत्मा का सहज अनुभव सर्व कर्मों के क्षय का कारण बनता है। जन्म मरण की संतति मिटा देने का कारण होता है। तब हमारा कर्तव्य यह है कि व्यवहार का विरोध न करके मध्यस्थ होकर निश्चयनय के आलम्बन से मोहादिक भावों को दूर करें और अपने को निर्विकल्प अनुभव करें।

सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में राग पर्याय की स्वयं निष्पन्नता-आत्मा में उपाधि का निमित्त पाकर जो विभाव पर्याय उत्पन्न होती है उसको नैगम आदिक नयों से भिन्न-भिन्न रूप में विदित किया जाता है। अब इस नवम परिच्छेद के प्रसंग में सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से राग पर्याय का क्या स्वरूप है, यह वर्णन किया जायेगा। सबसे पहले यह जानना कि जहाँ एक इस दृष्टि से देख रहे हैं, जहाँ केवल एक ही नजर आता है तथा वह भी कई समयों तक चलने वाली बात नहीं। तात्पर्य यह है कि एक समय तक रहने वाली एक बात को ही ऋजुसूत्रनय देखता है। ऐसी दृष्टि में जो राग पर्याय विदित हुई है- बतायें- वह कहाँ उत्पन्न हुई है? किसमें उत्पन्न हुई है? इसके उत्तर में यदि कोई अन्य पदार्थ कह दिया जाये निमित्त से हुई है अथवा यों भी कह दिया जाये कि पूर्वपर्याय जो कि विकृत थी, इससे हुई है, तो इतना भी सहन इस दृष्टि में नहीं है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में राग पर्याय अपनी सत्ता से है। कुछ सुगम जानने के लिए क्षणिकवाद के सिद्धान्त का भी ध्यान करते जायें तो उससे सुगमता मिलेगी ऋजुसूत्रनय के आशय को समझने में। क्षणिकवाद में प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। कोई भी पदार्थ अपने ही कारण से होता है और अपने ही आप विलीन हो जाता है। क्षणिकवाद की उत्पत्ति भी इस सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के आग्रह में हुई है, फिर तो यहाँ कोई ऐसा प्रश्न कर सकता है कि फिर ऐसे ऋजुसूत्रनय की क्या जरूरत है जिससे हठ की उत्पत्ति हो जाये? तो उत्तर यह है इसका कि कोई नय हठ उत्पन्न नहीं कराता किन्तु जहाँ मिथ्या भावना है वह नय का सहारा लेकर हठ कर बैठता है। नय हठ करने के लिए नहीं बना क्योंकि नय का स्वरूप ही ऐसा है कि अन्य बातों का विरोध न करके एक अपने विषय को बताये। यदि अन्य आशय का विरोध करके कोई



नय अपने विषय पर दृष्टि डलवाना चाहता हो तो वह कुनय होगा, सुनय नहीं कहलाता। यह उपयोग देने वाले की बात है कि वह हठ करके जानता है या बिना हठ किए नय के विषयमात्र को जानता है।

**ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में सामयिक पर्याय के अतिरिक्त अन्य अवलोकन का अभाव-** यहाँ यह समझिये कि सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में राग पर्याय अपनी सत्ता से है और स्वयं निष्पन्न है, क्योंकि इस निगाह में दूसरा कुछ दिखता ही नहीं। जैसे एक पौराणिक कथा सुनी है कि द्रोणाचार्य ने अपने कौरव पाण्डव शिष्यों की धनुर्विद्या की परीक्षा में एक वृक्ष पर कोई कागज की चिड़िया बनाकर रख दिया और उन शिष्यों को बारी-बारी से बुलाकर उस कागज की चिड़िया की आँख में तीर मारने को कहा और उनसे पूछा कि तुम्हें क्या दिखता है? तो वे बोले कि हमें पेड़ भी दिखता, चिड़िया भी दिखती, बाण भी दिखता आदि तो उन्हें अनुत्तीर्ण कर दिया और जब अर्जुन की बारी आयी तो पूछा कि तुम्हें क्या दिखता है? तो अर्जुन ने कहा कि मुझे तो बाण की नोक के सामने दिखती है सिर्फ इस कागज की चिड़िया की आँख। तब अर्जुन को उत्तीर्ण कर दिया। तो यहाँ यह बताया है कि जो जिस दृष्टि में रहता है उसे केवल वह ही प्रतीत होता है। तो ऐसे ही इन नयों की बात है। जिस नय के आशय में जो विषय है वहाँ वही उसे प्रतीत होता है। तो ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में केवल एक समय की पर्याय वही सर्वस्व है क्योंकि उसे और कुछ नजर नहीं आता। तो वह राग पर्याय स्वयं निष्पन्न है। जो एक समय का राग है वह पूर्व समय में नहीं और उत्तर समय में भी नहीं होता और सिद्धान्त भी यह बताता है कि एक समय की परिणति पहले और आगे नहीं रहती। पूर्व पर्याय अपने समय में हुई, दूसरे समय में दूसरी परिणति हुई, इसी के मायने है पूर्वपर्याय का विलय हो गया तो यों राग पर्याय अपनी सत्ता से है, स्वयं निष्पन्न है, न पहले है, न आगे होगा।

**ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में ऋजुसूत्रनय के विषय के साथ कार्यकारण, आधारआधेय भाव तथा विशेष्यविशेषण भाव आदि सम्बन्धों की अनुपपत्ति-** इस राग परिणति की रचना किसी अन्य पदार्थ से नहीं है, उस पर्याय के सम्बन्ध में पर्याय के अंशों से ही उस पर्याय की रचना होती है, अन्य कोई कारण नहीं, और न कोई आधार है। इस नय की दृष्टि से यह भी नहीं दिख रहा कि आत्मा में यह राग पर्याय हो रही है। आधारआधेय भाव, विशेष्यविशेषण भाव, कार्यकारण भाव, कोई भी सम्बन्ध जिसमें दो का सम्बन्ध होता है वह ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं। जो सरल वर्तमान को देखे उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। इसकी निगाह में वह पर्याय क्या है? है, जो कुछ सो है पूरा पदार्थ है, पूरी बात है, जो कुछ भी दिखा, वह अपने समय में है, वह किसी से उत्पन्न नहीं होता और न उसका कोई आधार है, ऐसा यह राग पर्याय इस ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में प्रतीत होता है।

कोई यहाँ प्रश्न कर बैठे कि आखिर राग पर्याय आती कहाँ से? ऋजुसूत्रनय के आशय में इस प्रश्न की गुंजाइश नहीं। राग, राग में है, राग आया कहाँ से? राग से ही राग हुआ है। राग का जो स्वरूप है, राग का जो अपना निजी काल है वैसा ही राग है। राग बस एक तत्त्व है, वह परिपूर्ण है, अपने से निष्पन्न है,



यह ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में विदित हुआ। यह उपादान से नहीं होता, पूर्व पर्याय से नहीं होता। ऋजुसूत्रनय में जो दिख रहा है वह कहा जा रहा है, सर्वथा ऐसा नहीं है। राग पूर्वपर्याय से क्यों नहीं होता? राग उत्तरपर्याय को क्यों नहीं उत्पन्न करता? यों नहीं कि जब वह राग पर्याय है उस समय पूर्वपर्याय नहीं और न उत्तर पर्याय है। जब उत्तर पर्याय होगा तब यह प्रथम पर्याय रहती नहीं। तो जो है ही नहीं, वह दूसरे का कारण कैसे बन सकेगा, कारण तो वह बनेगा कि जो है। पिता से पुत्र हुआ। पिता भी है, पुत्र भी है, हो गया। मथनी से दही मथा गया, हो गया। मथनी भी उस समय है, दही भी। पर जो बात उस समय है नहीं, वह दूसरे का कारण कैसे बने? पूर्वपर्याय के समय उत्तरपर्याय नहीं, तो उत्तरपर्याय का कारण पूर्वपर्याय कैसे बनेगा? देखिये- ऐसी भी बातें कुछ लोग आजकल के कहते हैं। कहना गलत नहीं है, किन्तु साथ ही दृष्टि को भी खुलासा कर दें कि यह ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में विषय आ रहा है तो वह गलत न होगा। नय का जिक्र न करके यह बात कही जाये, तो वह बात निर्णय की नहीं बनती।

**ऋजुसूत्रनय के आशय में व्यवहार की अनुपपत्ति-** ऋजुसूत्रनय का तो ऐसा विषय है कि जिस विषय से कोई व्यवहार भी नहीं बनता। बल्कि कोई ऋजुसूत्रनय का ही हठवादी हो जाये तो व्यवहार का लोप हो जायेगा। कोई कहे तो फिर ऐसे नय को बताते ही क्यों हैं कि जिससे व्यवहार भी लुप्त हो, बात भी कुछ नहीं बनी, तो बात यह है कि ऋजुसूत्रनय में व्यवहार का लोप होता, तो होओ। जिस नय में जो विषय आता है वह विषय तो बताया ही जायेगा। हाँ, व्यवहार इस नय से न चलेगा। व्यवहार का कारण नैगमनय है और अन्य नय है। ऋजुसूत्रनय एक पर्यायार्थिकनय है और इससे सूक्ष्म सूक्ष्म है- शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय। देखने में ऐसा सीधा लगता है कि ऋजुसूत्रनय से व्यवहार नहीं बनता, मगर समभिरूढनय से व्यवहार बनता है। गो कहा, तो गाय का ग्रहण हो गया एवंभूतनय से तो व्यवहार बन जायेगा। एवंभूतनय उसे कहते हैं कि शब्द का जो अर्थ है उस कार्य में जब वह पदार्थ लग रहा हो उस समय उस शब्द से कहना। जैसे पूजा करते हुए में उसको पुजारी कहें यह तो आसान बात है, व्यवहार बन जायेगा, लेकिन नहीं, इससे भी व्यवहार नहीं बनता। यह तो विषय बताया जा रहा है, क्योंकि शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय ये तो ऋजुसूत्रनय से और सूक्ष्म विषय वाले नय हैं। पर नैगमनय जैसी जो दृष्टि बनाये है और समभिरूढनय, एवंभूतनय की बात जोड़ रहे हैं तब ऐसा लगता है कि इससे व्यवहार बन जायेगा। जो ऋजुसूत्रनय एक समय की पर्याय को निरखता है, उसमें न कोई कारण है, न उसका कोई कार्य है।

**ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में निमित्त नैमित्तिक भाव की व विशेष्यविशेषण भाव की अनुपपत्ति-** ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में राग नैमित्तिक भी नहीं होंगे। राग नैमित्तिक तो है, इसको मना तो नहीं किया जा सकता। जीवों में जो राग होता है वह क्या कुछ निमित्त पाये बिना ही हो जाता है? अगर निमित्त पाये बिना ही हो, तो राग आत्मा का स्वभाव बन बैठेगा और फिर उसकी व्यवस्था भी न बनेगी। कब तक हो? कब तक नष्ट हो? कब नष्ट हो, कम हो, ज्यादा हो, यह कोई व्यवस्था न बनेगी। इस कारण मानना तो होगा कि राग नैमित्तिक है।

कर्मोदय का निमित्त पाकर राग परिणति उत्पन्न होती है। लेकिन जब ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में यह दृष्टा उस राग परिणमन को निरख रहा है, उसकी दृष्टि में न कोई दूसरा पदार्थ है, न पूर्व-उत्तर पर्याय है, तब वहाँ नैमित्तिक कहा कैसे जा सकेगा? क्योंकि जो नैमित्तिक है वह सब राग नहीं, और जो राग शक्ति है वह नैमित्तिक नहीं। देखिये विशेषणविशेष्य भाव लगाया तो जाता है, मगर ऋजुसूत्रनय में नहीं लगा सकते, क्योंकि ऋजुसूत्रनय जरा भी हेरफेर को सहन नहीं कर सकता। अगर कह दिया जाये कि कौवा काला है, लोग कहते ही हैं, व्यवहार भी ऐसा चलता है लेकिन ऋजुसूत्रनय के आशय में यह व्याप्ति बनेगी तो यह बात ठीक नहीं कहलायेगी। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में विशेष्यविशेषण भाव की व्याप्ति नहीं। ऐसा नियम नहीं कि जितना सारा कौवा हो वह नियम से काला हो, और जितनी दुनिया की काली चीजें हैं वे सब कौवा हों। तब इस दृष्टि में कौवा काला है, यह कैसे कहा जा सकता है। तो जिस नय का कोई ऐसा सूक्ष्म विषय है कि विशेष्यविशेषण भाव भी नहीं बनता, वहाँ कारणकार्य भाव बनेगा ही क्या?

**राग को नैमित्तिक न कहा जा सकने का एक अन्य कारण-** अब और तीसरी बात सोचिये। जब यह कहा गया कि राग नैमित्तिक भाव है तो इसमें राग तो बन गया विशेषण। जैसे काला मनुष्य है तो मनुष्य है विशेष्य और काला हुआ विशेषण। यों ही यहाँ राग तो हुआ विशेष्य और नैमित्तिक विशेषण हुआ। अब यहाँ यह बतलाओ कि ये दो चीजें सामने रखी हैं- विशेष्य और विशेषण, ये परस्पर में एकमेक हैं या जुदा-जुदा? यों दो विकल्प रखे। कोई सा भी विशेष्यविशेषण ले लो। नीला कमल, ऐसा कहा तो बतलाओ ये दो बातें हुई ना? नीला विशेषण है और कमल विशेष्य है। तो नीला और कमल ये दो क्या एक चीज हैं या पृथक-पृथक। यदि कहो कि पृथक-पृथक बातें हैं तो पृथक में सम्बंध हो ही नहीं सकता। यह तो बिल्कुल अलग है। जैसे बेंच अलग है, चटाई अलग। जब ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं तो इनमें क्या सम्बंध है, विशेष्यविशेषण भाव क्या? यों ही नैमित्तिक और राग ये दोनों भिन्न हैं तो इन दोनों का सम्बंध नहीं बन सकता, और न यह कहा जा सकता कि राग नैमित्तिक है। अगर भिन्न-भिन्न दो चीजों को भी विशेष्य विशेषण भाव में लगा दें तो कोई किसी का भी विशेषण बन जायेगा। जैसे काला कौवा, अब काला भी जुदा है और कौवा भी जुदा है। यदि ये भिन्न हैं तो सम्बंध नहीं बनता और यदि ये अभिन्न हैं तो एक बात रही, एक ही पदार्थ रहा। एक में विशेष्य विशेषण क्या? मनुष्य, मनुष्य है। इसमें विशेष्य विशेषण क्या? हाँ, कोई ऐसा सोचे कि बन तो जाता है ऐसा कि यह मनुष्य तो मनुष्य है, इसमें इंसानियत है तो यहाँ दो अर्थ हो गए। यह मनुष्य विशेष्य है- इसका अर्थ है कि जो 5-5 फिट का मनुष्य बैठा है पास में वह मनुष्य। और मनुष्य है, इसका अर्थ है कि अच्छे विचार वाला है। अच्छे कर्तव्यों वाला है, तो अर्थ दो हो गए। मगर अर्थ भी दो नहीं, ऐसा भिन्न हो कोई तो वहाँ विशेष्य विशेषण क्या बनेगा? इस कारण राग नैमित्तिक है, यह विशेष्य विशेषण हो ही नहीं सकता। जिस निमित्त से हमने मान लिया राग, उस निमित्त से राग तो है नहीं। कहते हैं ना कि निमित्त से राग होता, निमित्त में खुद में राग नहीं बसा हुआ है। वहाँ से राग आयेगा कैसे? कर्म में विभाव राग नहीं है, आश्रयभूत

निमित्त में पुत्र मित्रादिक में इस जीव का राग भाव नहीं है। आयेंगे वे कैसे राग? इस कारण राग नैमित्तिक है, यह बात नहीं कही जा सकती। तीसरी बात यह है कि किसी के गुण दोष किसी में लादे नहीं जा सकते। अगर कर्म में राग बसा है तो वह कर्म खराब है। वह अपने दोष में है। उसका दोष आत्मा में नहीं लादा जाना चाहिए। यों ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में राग है, स्वयं निष्पन्न है, उसका कोई कारण नहीं, वह नैमित्तिक नहीं। इस तरह से एक राग परिणति नजर में आती है।

**सामायिक राग परिणमन की वचनागोचरता-** बात चल रही है यहाँ बहुत सूक्ष्म दृष्टि है। उससे केवल अपने बोध के लिए समझ लीजिए कि हम आप में जो राग परिणति है, प्रीति जगती है या अन्य कोई विभाव भाव जगता है तो उसके जगने में बहुत समय लग जाता है। कुछ ही समय में नहीं जगता। मगर राग परिणमन प्रत्येक समय में होता है। प्रत्येक समय का अगला अगला राग परिणमन होकर भी जो हममें राग जगता है, जिससे क्षोभ और आकुलता मचती है वह एक समय के राग के अनुभव की बात नहीं, किन्तु धाराबद्ध अनेक समयों के राग की बात है। एक समय की राग परिणति तो इतनी सूक्ष्म है कि जिसके बारे में यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह कारण से हुआ है, यह नैमित्तिक है, अथवा इसके बारे में एक दूसरे को भी समझायें। जब हमने कोई चीज देखी तब हम समझा नहीं रहे, जब हम समझा रहे हैं तब वह चीज नहीं। तो समझाना भी नहीं बन सकता है इस नय में। हम जानकर ही तो कुछ समझा करते हैं। जो भी समझाना है वह जानकर ही तो समझाना है। जानने का समय पहले था, समझाने का समय अब है। अथवा तुरन्त जानते हुए भी समझा रहे हैं तो वहाँ भी समय भेद है। जिसके बारे में समझा रहे हैं उसकी जानकारी समझाने से बहुत हो चुका। तो इसमें न समझने वाला, न समझाने वाला, न नैमित्तिक, न कारण, न कार्य, न विशेष्य, न विशेषण, ऐसा एक समय का राग परिणमन है। यह सब ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में आया। केवल इस ही आधार पर पराधीन न बन जायेगा। बात तथ्य की कही गई है। प्रति समय का राग परिणमन है और इस नय की दृष्टि में वह स्वतंत्र है। जो लोग कहते हैं कि पर्यायें स्वतंत्र हैं, अपने समय में होती हैं और मिट जाती हैं, ये स्वतंत्र, स्वतंत्र पर्यायें हैं, वह इस नय का आशय है, सर्वथा स्वतंत्र है, ऐसा न कहा जा सकेगा। अथवा कार्य कारण भाव है, निमित्त नैमित्तिक भाव है तभी बंध मोक्ष की व्यवस्था है।

**सामायिक राग परिणमन की वाच्यता पर विचार-** इस एक समय के राग को हम किन शब्दों में बतायें? कोई क्रिया होती है तो हो रही, हो चुकी, दो ही बातें तो कही जायेगी। कहीं से कोई जा रहा है, तो पहिचान गए, चूँकि आ रहा है, आ चुका, आ गया, कुछ तो कहा जायेगा ना, पर ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में क्या कहा जाये? हो रहा है, हो चुका है, होवेगा। इनमें से एक भी बात नहीं कही जा सकती। जैसे कोई मनुष्य चावल पका रहा हो उसे भोजन करना था, तो जब वह लकड़ियाँ ही चूल्हे में डाल रहा था, उस समय उससे कोई आकर पूछता है कि भाई क्या कर रहे हो? तो वह कहता है- खिचड़ी पका रहे हैं। अब आप देखिये- डाल तो रहा है वह लकड़ियाँ, वहाँ अभी न चावल का पता है, न दाल का, पर वह कहता है कि खिचड़ी पका रहे हैं, तो

क्या उसने गलत कहा?...गलत नहीं कहा। और सुनने वाले ने भी झूठ नहीं समझा, क्योंकि उस सुनने वाले की दृष्टि नैगमनय की थी। अगर उससे कोई कह बैठे कि साहब आप तो चूल्हे के पास लकड़ियाँ डाल रहे हैं और कहते हैं कि खिचड़ी पका रहे हैं, तो यह तो आप गलत कहते हैं? सो उसके उत्तर में कहते हैं कि वह भी गलत नहीं कह रहा, क्योंकि उसकी सूक्ष्मता पर जब दृष्टि देंगे तो यही बात दिखेगी कि हाँ, वह खिचड़ी पका रहा है। अब देखो वहाँ खिचड़ी पक गई क्या?...वह पक तो नहीं गई।...तो क्या पच रही है? जो पच रही है वह खिचड़ी नहीं। खिचड़ी तो उसे कहते हैं जो पक चुके। तो पच रही है यह भी नहीं बनता, पक गई यह भी नहीं बनता। तब उसे कहते हैं कि पच्यमान पक्व है। कहाँ ले जाये उसे समझाने के लिए। तो इस प्रकार प्रति समय में होने वाला जो राग परिणाम है उसे रक्त नहीं कह सकते या राग कर चुके यों न कहेंगे, किन्तु उसको बोला जायेगा राज्यमान रक्त। भला बतलाओ- जिस विषय को समझाने के लिए कोई शब्द ही नहीं है, जोड़-जोड़कर समझाना पड़ रहा, वह कोई बात भी है क्या? उसको समझाने के लिए कोई सिद्धान्त या कर्तव्य न बनाया जायेगा। ऋजुसूत्रनय के विषय में बताया गया है कि ऐसे परमार्थ मात्र समय के परिणमन को ऋजुसूत्रनय कहते हैं।

**नैगम और ऋजुसूत्रनय दोनों नयों के विषय की अखण्डता की दृष्टि-** यद्यपि राग प्रति समय नवीन-नवीन परिणमन करता हुआ होता है तब भी समय मात्र राग की दृष्टि में राग भोगने में नहीं आता। केवल एक समय की परिणति निरखने पर अनन्तर चैतन्य-स्वभाव अनुभव में हो जाता है। नैगमनय और ऋजुसूत्रनय इन दोनों का विषय अखण्ड है। नैगमनय तो इतने विशाल को देखता है कि जो अनादि अनन्त है और ऋजुसूत्रनय उतने एक अंश को देखता है जो अविभाज्य अंश है, जिसके फिर कभी अंश नहीं हो सकते। तो ऋजुसूत्रनय ने भी अखण्ड को विषय किया और नैगमनय जैसे विशाल विषय वाले नय ने भी अखण्ड को विषय किया। दोनों नयों के उत्कृष्ट विचार में विषय अखण्ड होता है।

**स्वभावानुभव में ही निर्विकल्पानुभूति की साक्षात्कारणरूपता-** नैगम और ऋजुसूत्रनय दोनों का विषय अखण्ड है, ऐसा जानकर यह एक जिज्ञासा हो सकती है कि तब फिर अखण्ड स्वभाव में पहुंचने के लिए साधन नैगमनय का उपयोग है, तो ऋजुसूत्रनय का भी उपयोग हो सकता है। ऐसी जिज्ञासा उनकी ठीक है और बात भी ऐसी ही है कि अखण्ड विषय के जानने पर विकल्प छूटकर स्वभाव में पहुंचना होता है। नैगमनय ने तो ऐसे अखण्ड को देखा कि जो अनाद्यनन्त विशाल है, जिस दृष्टि में भेद है ही नहीं। और, ऋजुसूत्रनय ने भी अखण्ड को देखा। देखिये पदार्थ का कालापेक्ष या खण्ड होता है, पर ऐसा आखिरी खण्ड ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में दिखा कि पदार्थ का परिणति रूप में खण्ड हो होकर ऐसा आखिरी खण्ड हुआ जिसका खण्ड किया ही नहीं जा सकता। एक समय के परिणमन का खण्ड क्या हो सकता है? तो जिस नैगमनय के प्रयोग में अनादि अनन्त द्रव्य को निरखकर, अनन्त गुण पर्यायों का अभेद पिण्ड देखकर उसके चिंतन के मार्ग से जिस उपयोग से राग का अवकाश न होने से अखण्ड निर्विकल्प स्व के अनुभव में पहिचान

की विधि बनती है। इस प्रकार एक समय की राग परिणति अथवा कुछ भी परिणति यदि मनन में आये तो वह भी एक ज्ञेय ऐसा बन जाता है कि उस माध्यम से एक चैतन्य स्वभाव के अनुभव में जाने का अवसर मिलता है।

**प्रतिसमय राग परिणमन होने पर भी धाराबद्ध राग के उपयोग से क्षोभ कीव्यक्ति-** यहाँ यह प्रश्न हो सकेगा कि पहले तो समय मात्र राग परिणति का निषेध किया, सो समाधान सुनिये कि पहले भी समय मात्र परिणति का निषेध नहीं किया गया, किन्तु यह बताया गया था कि समय मात्र राग परिणति क्षोभ का कारण नहीं बनती अर्थात् उसका उपयोग नहीं बन पाता। जो वेदन कराये, किन्तु धाराबद्ध अन्तर्मुहूर्त का रागसमूह यह उपयोग में रहता है। तो यहाँ भी क्रमशः ही चला उपयोग। उपयोग ने भी उस समय के राग को जाना। दूसरे समय के राग को जाना, पर यह ज्ञान सब योग्य अन्तर्मुहूर्त तक लगातार होता है। तब ऐसा उपयोग बनता है कि वह विकार को महसूस करने का कारण बन सकता है। यह बात समझाने के लिए कि विकार अथवा आकुलता को उत्पन्न कर रहा हुआ इस प्रकार का राग निरपेक्ष एक समय का राग नहीं है। वहाँ भी यह बात जानना है कि समय मात्र राग की जानकारी में राग का क्षोभ व्यक्त नहीं हो पाता, अनुभव नहीं हो पाता।

**परपदार्थ में अपनी एकता का उपयोग बने बिना रागव्यक्ति की असंभूति-** अनुभव मतलब है वेदना का। वेदन होता है ज्ञान और ज्ञेय की एकता होने पर। जैसे ज्ञान जो हो रहा है उसका ज्ञेय बन रहा है राग पर्याय। तो जब राग पर्याय में राग पर्याय की एकता हुई तो अशुद्ध वेदन हुआ। प्रभु भी जानता है समस्त लोकालोक को, तो वह ज्ञान का विषयमान रह जाता है और वहाँ एकता होती है सर्व पदार्थों के आकार रूप परिणमणें हुए इस अन्तर्ज्ञेय ज्ञेयाकार के साथ ज्ञान की। अर्थात् ज्ञान और अन्तर्ज्ञेय इनकी एकता में शुद्ध वेदन होता है और ज्ञान और पर पदार्थ ज्ञेय इनकी एकता होने पर अशुद्ध वेदन होता है। यद्यपि ज्ञेय की पर-पदार्थ से एकता कभी नहीं हो सकती, लेकिन विकल्प जो स्वीकार करते हैं, वे इस ढंग से चलते हैं कि मानो पर-पदार्थ से ये एकमेक हो गए। तो विकल्प में परपदार्थ के साथ ज्ञान की एकता होने पर अशुद्ध वेदन होता है और ज्ञान का अन्तःज्ञेयाकार के साथ शुद्ध वेदन होता है। तो परविषयक ज्ञान और परपदार्थ जब इनमें कल्पना से एकता होती है। जब कल्पना के प्रसंग में जो वेदन होता है वह तो अशुद्ध वेदन है और ज्ञानाकार ज्ञान और ज्ञानाकाररूपस्वज्ञेय जब इसकी एकता होती है तो वहाँ शुद्ध वेदन होता है। जैसे दर्पण के सामने कोई चीज रखी है। दो बालक खड़े हैं तो दोनों बालकों का प्रतिबिम्ब दर्पण में आया। अब वहाँ देखने वाला कोई पुरुष उस छाया को और दर्पण को एकमेक रूप से देखता है, अथवा पर पदार्थ पर दृष्टि देकर कहते भी हैं कि यह बालक की छाया है तो उसने इस निगाह में दर्पण को और पर पदार्थ को एकमेक करता हुआ जाना और कोई पुरुष वहाँ यह समझ रहा है कि इस दर्पण की एकता तो इस दर्पण के निज के जो स्वच्छ प्रदेश हैं उनके साथ है, बच्चे के साथ नहीं है। अथवा कुछ और मध्य रूप में चलें तो यह जो छाया रूप परिणमन द्रव्य का हो रहा है इस दर्पण की एकता इस दर्पण की परिणति के साथ है, पर के साथ नहीं है। यों भी

कोई निरख सकता है। ऐसे ही कोई जीव परपदार्थ के साथ अपनी एकता समझ रहा है, यह मैं हूँ, यह ही मेरा शरण है, इससे ही मेरा जीवन है, आनन्द है। इस प्रकार पर के साथ अपनी एकता करते हैं तो उसका वह अशुद्ध वेदन है। वहाँ क्षोभ उत्पन्न होता है। और जहाँ अन्तर्ज्ञेयाकार का ज्ञानाकार ज्ञान जो ज्ञानाकार है उस ज्ञेय के साथ इस ज्ञान की एकता है, तब शुद्ध वेदन है अथवा वहाँ जो अन्तर्ज्ञेयाकार हुआ है, ज्ञेयों का जानन रूप परिणमन हुआ है उस परिणमन के साथ ही ज्ञान की एकता है, किन्तु विषयभूत परपदार्थ के साथ नहीं है, अतः वहाँ शुद्ध वेदन है। यहाँ राग के सम्बंध में क्या स्थिति होती है कि राग के विषय के साथ एकता होती है और राग की जो क्रिया है उस क्रिया के साथ एकता विकल्प में होती है अतएव अशुद्ध वेदन होता है। तो अशुद्ध वेदन को, विकारस्वरूप को लिए हुए राग यह एक समयवर्ती नहीं हो सकता। एक धाराबद्ध अनेक समय का राग उपयोग में ग्रहण में आये वहाँ विकार जगता है।

**पूर्वापर निरपेक्ष परिणति के ज्ञेय होने पर राग के सूख जाने का अवसर-** यद्यपि राग प्रति समय होता है, किन्तु मात्र एक समय का राग ज्ञान में आये, पूर्वापर संस्कार छोड़कर उसमें केवल समय मात्र परिणति ज्ञेय हो तो वहाँ राग का अनुभव नहीं होता, किन्तु एक ज्ञान विषय हो जाता। ज्ञान में सापेक्षता न रही। **दो द्रव्यों का, दो क्षेत्रों का, दो कालोंका, दो भावों का सम्बंध लेते हुए जो जानन होता है वह सापेक्ष है।** ऐसे निरपेक्ष सम्बंध मात्र परिणति होने पर इस जीव को विकार नहीं उत्पन्न होते। तब अपने को अविकार में अनुभव करने के लिए यह भी मार्ग है कि किसी भी पर्याय के सूक्ष्म अंश करके एक समय मात्र की पर्याय को ज्ञेय करके ऐसा अपना ज्ञानात्मक प्रयत्न करें कि वह ज्ञेय बन जाये। तो यह भी एक पद्धति है स्वानुभव की। अनेक समयों की राग परम्परा को समुह रूप से उपयोग ग्रहण न करे तो यह भी एक कल्याण की दिशा है, क्योंकि अविकारानुभूति होने से उसमें किस-किस प्रकार के ज्ञान हुआ करते हैं, उनको यदि संक्षेप में कहा जाये तो यह कहना चाहिए कि एक द्रव्य, एक क्षेत्र, एक काल, एक अखण्ड भाव, इनका विचार बने, विचार से बढ़कर भावना बने, भावना से बढ़कर ध्यान बने और ऐसा ही उपयोग हो उसके बाद अविकार तत्त्व की अनुभूति होती है। जैसे किसी वृक्ष की जड़ को पानी न मिले तो उसका काम है सूख जाना। इसी प्रकार रागानुभूति के लिए है अन्य साधन, अन्य साधन का आश्रय। वह आश्रय जब न मिले तो यहाँ राग वृक्ष भी सूख जायेगा। यों नैगमनय का विषय भी अखण्ड है और सूक्ष्मनय का विषय भी अखण्ड है। अखण्ड विषय ज्ञेय होने पर अखण्ड स्वभाव की अनुभूति का अवकाश मिलता है। जब अकेला ही कोई द्रव्य, अकेला ही स्वक्षेत्र, अकेला ही स्वकाल ज्ञेय होता है तो उस ज्ञान का ज्ञेय ज्ञानस्वरूप हो जाता है।

**दर्शनोपयोग से यथासंभव तुलना करके समयमात्र परिणति के ज्ञेय होने पर कल्याण लाभ के अवसर का संकेत-** जैसे दर्शन के स्वरूप में बताया है कि पदार्थ का आकार न ग्रहण करके पदार्थों को विशेष रूप से न निरखकर जो सामान्य ग्रहण होता है वह दर्शन है, तो अब जरा प्रयोग करके तो देखो। किसी भी पदार्थ का हम दर्शन करें, उस पदार्थ की विशेषता प्रतिभास में आये तो दर्शन न रहा। उस पदार्थ का कोई आकार

प्रकार रूप रंग ज्ञान में आये, तो दर्शन नहीं होता। कोई सामान्य भी प्रतिभास में आये तो वह प्रतिभास कैसा कि पदार्थों का नाम भी न आये, पदार्थों का क्षेत्र भी न आये, परिणति भी न आये, आकार प्रकार भी प्रतिभास में न आये और सामान्य प्रतिभास हो। और सामान्य प्रतिभास भी किया, और उसमें यदि यह लगाव रहा कि इन पर-पदार्थों का सामान्य प्रतिभास है तब फिर सामान्य ही क्या रहा? जब इस पदार्थ का यह सामान्य प्रतिभास, इस पदार्थ का यह सामान्य तत्त्व ऐसा भी अगर सम्बंध लगा दिया गया, तो वहाँ सामान्य प्रतिभास भी कुछ न रहा। तो अब देखिये- दर्शन विधि में यह जीव कैसे-कैसे धीरे-धीरे उतरता हुआ कैसा अविकारानुभूति में पहुंचता है और चलो यही प्रतिभास रहा कि इन पदार्थों का सर्व पदार्थों का सामान्य प्रतिभास में आया, लेकिन वह सामान्य एक जो सर्व पदार्थों में है, उस सामान्य स्वरूप पर दृष्टि जाये तो उस प्रतिभास के समय परपदार्थ का लगाव हट जाता है।

अब किसका यह सामान्य? किसका कहने पर जो उत्तर आता वह पदार्थ ओझल हो जाता। अब वह परपदार्थ भी ओझल हो गया तो सामान्य प्रतिभास में प्रतिभास क्या रहा? प्रतिभास निराधार तो नहीं होता। उसके लिए तो कुछ विषय बनाना ही पड़ेगा। जहाँ परतत्त्व खिसक गया, तब आत्मा तो आधार है, पहले भी था, अब भी है। कोई अज्ञानी पुरुष यदि परपदार्थ के सम्बंध में कुछ जानकारी कर रहा तो उस जानकारी का आशय परमार्थतः यह ज्ञाता आत्मा ही है। परपदार्थ तो विषयरूप से आश्रय है। आश्रय तो परमार्थतः आत्मा ही है, वह कहीं भी हटाया नहीं जा सकता। फिर यहाँ तो पर-पदार्थ उपयोग से हट ही गया, तब रह जाता है यह निज स्व। उस समय में इस अविकार स्व की अनुभूति जगती है। तो समयमात्र की परिणति यदि ज्ञेय बन जाये तो यह तो कल्याण लाभ की बात है।

**ऋजुसूत्रनय के आशय में आत्मा के रागकर्तृत्व का निषेध-** अब एक दूसरा विषय ले लीजिए। इस राग पर्याय का कर्ता क्या आत्मा है? विचार करो इस बात का। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में यह प्रश्न किया जा रहा। तो भाई! प्रश्नकर्ता ने अगर ऋजुसूत्रनय की दृष्टि की होती, तो यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। प्रश्नकर्ता कुछ भी प्रश्न करे उसके प्रश्न को मना तो नहीं किया जा सकता। समझा जा सकता है कि प्रश्नकर्ता का यहाँ आशय क्या है? राग परिणति किसकी है ऐसी दो जगह दृष्टि होने पर प्रश्नकर्ता का आश्रय ऋजुसूत्रनय का नहीं रहता। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में राग पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है, क्योंकि राग से पहले जो पर्याय हुई है, द्वेष हुआ है मानों उस समय भी यह आत्मा था। आत्मा तो शाश्वत है, त्रैकालिक है। तो त्रैकालिक-स्वभावी आत्मा का काम एक समय का राग परिणमन कैसे हो सकता है? यह सब ऋजुसूत्रनय के आश्रय में चर्चा चल रही है। जिस समय जिस नय के आशय में चर्चा चलती हो उस समय में उस नय का ही पूर्णरूप से आश्रय रखा जाये तो बात सुगम स्पष्ट हो जाती है।



**ऋजुसूत्रनय के आशय में राग की नैमित्तिकता की असंभूति-** यदि कोई ऐसा सोचने लगे कि राग तो नैमित्तिक है, यह आत्मा तो कर्ता नहीं है राग का, आत्मा तो आधार मात्र है। उसमें परिणमन होता है, पर निमित्त कर्ता है क्योंकि राग नैमित्तिक है। चर्चा रखे कोई नवीन कैसी ही। यहाँ यह परख लीजिए कि इस ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में राग नैमित्तिक है यह कहना युक्त नहीं। राग का कर्ता निमित्तभूत पदार्थ है, यह कथन भी संगत नहीं, क्योंकि राग का निमित्त के साथ समानाधिकरण नहीं। राग तो वर्तमान पर्याय मात्र है और आत्मा त्रैकालिक है। निमित्त अलग है और आत्मा अलग है। तो राग का समानाधिकरण आत्मा में नहीं हो सका और निमित्त में भी नहीं हो सका। तो राग पर्याय का कर्ता कोई भी नहीं है।

**ऋजुसूत्रनय के आशय में रागभाव की स्वयं निष्पन्नता व अहेतुकता-** ऋजुसूत्रनय के आशय में राग पर्याय स्वयं निष्पन्न है, स्वयं सत् है, अपने समय में अपने आप उत्पन्न हुआ है। यह आशय तो अनन्तर पूर्ववर्ती समय के परिणमन को भी नहीं निरखता। तब राग का आधार ये निमित्त और आत्मद्रव्य दोनों ही न रहे। तब क्या रहा? आधार ही कुछ नहीं। सब परिपूर्ण है, निष्पन्न है, स्व-सहाय है। ऋजुसूत्रनय के आशय में कोई दूसरी बात दृष्टिगत नहीं होती। इस कारण यह भी कहा जा सकता कि राग की उत्पत्ति अहेतुक है। किसी कारण से नहीं होती। यह बात कह रहे हैं ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से। इस दृष्टि में कार्यकारण भाव नहीं है। मुझे यह बात बराबर कहनी पड़ रही है इसलिए कि कहीं यह दृष्टि छोड़कर सर्वथा इसका अर्थ न लगा लेना, अन्यथा कुछ विषय समझ में भी न आयेगा। और उसके प्रति शल्य और शंका रह सकेगी। राग पर्याय अहेतुक है। वह किसी भी हेतु में उत्पन्न नहीं होता। यह बात कैसे समझी जाये? तो देख लीजिए- जो उत्पन्न हो रहा है एक समय में राग पर्याय जो हो रहा ना, उसको दृष्टि में लेकर चिन्तन करिये। वह उत्पन्न हो रहा है या उत्पन्न हो चुका है। एक समय में एक राग परिणमन यदि उत्पन्न हो रहा वह किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता। वह पहले उत्पन्न तो हो ले। उत्पन्न हो चुके तब वह उत्पन्न करेगा दूसरे को। यदि कहो कि जो उत्पन्न हो चुका राग, वह करेगा उत्पन्न दूसरे राग को, तो सुनिये इस विधि में राग को दो समय रहना पड़ेगा। एक तो उत्पन्न होने के लिए समय लगेगा, फिर दूसरे राग को उत्पन्न करने के लिए अन्य समय होगा। और दो समय में कोई परिणति रहती नहीं। प्रत्येक परिणति अपनी-अपनी, एक-एक समय में होती है, और साथ ही यह भी विचारिये कि जो राग परिणमन उत्पन्न हो रहा है, यदि वह आगे की राग पर्याय को उत्पन्न करने लगे, तो जब उसमें दूसरे परिणमन को उत्पन्न करने की शक्ति है तो ऐसी आगे की अन्य और पर्यायों को उस ही क्षण में क्यों नहीं उत्पन्न कर देता? कर देना चाहिए। फल क्या होगा कि भविष्य की अनन्त पर्यायों को यह एक समय का पर्याय उत्पन्न कर देगा। जब एक समय का राग पहले समय के राग को उत्पन्न करता है याने अगले समय के राग का सद्भाव नहीं है और जिसका सद्भाव नहीं है उसे जब उत्पन्न करने लगा यह समयवर्ती राग, तो भविष्य की असद्भाव में अनन्त पर्यायें भी हैं ना, उन्हें भी उत्पन्न कर दे, तब एक ही समय में सब पर्यायें हो जाने से फिर पर्यायों का आगे अभाव हो जायेगा। कुछ रहेगा ही



नहीं। तो यों द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा। इस कारण यह नहीं कह सकते कि जो उत्पन्न हो रहा है वह अगली राग पर्याय को उत्पन्न कर देगा। यदि कोई सोचे कि नहीं, उत्पन्न हो चुका है वह राग पहले समय में, वह करेगा दूसरे राग को उत्पन्न, तो जो उत्पन्न हो चुका वह उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि उत्पन्न हो चुका। एक समय उसका पूरा हो गया। अब उत्पन्न करेगा तो दूसरे समय में करेगा। तो वह रागपर्याय अब दो समय में आ गया। जब कोई एक परिणति दूसरे समय में आ गई तो तीसरे चौथे आदिक अनन्त समयों में भी बनी रहे, इसे कौन रोक सकेगा? और जब कोई न रोक सका, समय मात्र का परिणमन भविष्य के सर्व समयों में रह गया तो इसके मायने यह है कि वही रह गया, कूटस्थ अपरिणामी हो गया। तो यों राग पर्याय का कोई हेतु नहीं बनता, अतएव राग पर्याय अहेतुक है।

**ऋजुसूत्रनय के आशय में पूर्वपर्याय के अभाव में उत्तरपर्याय के उत्पाद के कारणत्व का अभाव-** कोई यह सोचे कि यह हेतु बना लें कि पूर्व पर्याय का अभाव उत्तर पर्याय का कारण बनता है तो पूर्व समयवर्ती राग का अभाव होते ही अब राग पर्याय का कारण हो जायेगा, सो भी बात नहीं, क्योंकि अभाव भाव का कारण नहीं हो सकता। असत् सत् का कारण नहीं होगा। पूर्व पर्याय न रहे, वह उत्तर पर्याय का कारण कैसे होगा? इन बातों से यह समझ लीजिए कि यदि कोई ऐसी चर्चाये करता है कि अभाव भाव का कारण नहीं। पूर्व-समयवर्ती परिणति उत्तर समय का साधन नहीं, तो ये सब बातें ऋजुसूत्रनय के विषय में है। यदि इस नय का बल दे करके नहीं कहा है तो ऐसी चर्चा एक स्वरूप के विरुद्ध भी बन सकती है और कल्याण की दिशा से दूर हटा सकती है।

**प्रतिसमय, प्रतिसमय की परिणति की परिपूर्णता-** इस समय सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से राग परिणति का निरखना कर रहे हैं अर्थात् एक समय में जो विभाव परिणमन होता है उसकी स्थिति क्या है? इस नय से यह बतलाया कि वह राग किसी से उत्पन्न नहीं होता और किसी अन्य से नष्ट नहीं होता। अपने आप में ही उत्पन्न होता है और स्वयं ही नष्ट होता है। राग कहो, कषाय कहो, कोई-सा भी विभाव परिणाम कहो, सबका उपलक्षण है यहाँ राग। तो एक समय में जो हम आपमें राग परिणति बनती है, देखिये उसे हम इन्द्रिय से नहीं जान सकते, युक्ति से ही समझ सकते हैं कि जब दो मिनट तक बराबर राग करते हैं तब समझ में आता है कि हाँ यह राग है। तो आखिर एक मिनट में भी तो कुछ राग हुआ। एक सेकेण्ड में तो कुछ राग हुआ, एक सेकेण्ड के असंख्यातवें हिस्से में कुछ राग हुआ, और जिस समय जो परिणमन होता है वह परिपूर्ण होता है। लोग कहा करते हैं कि हमारा यह काम अधूरा पड़ा है लेकिन अधूरा तो कोई होता ही नहीं है। कौनसी चीज ऐसी है जो अधूरी हो? एक भी चीज ऐसी नहीं जो अधूरी हो। अधूरापन तो कल्पना में है। चीज में अधूरापन नहीं। मान लो आप मकान बनवा रहे, उसकी भीत अभी आधी ही बन पायी, तो लोग कहते हैं कि अभी यह काम तो अधूरा ही हुआ है। पर ऐसी बात नहीं है, उसमें जो ईंटें, मिट्टी आदिक चीजें हैं वे तो एक-एक पूरी-पूरी चीजें हैं। उनमें अधूरापन रहा कहाँ? अधूरापन तो इस कल्पना में है जो यह सोच

डाला था कि हमें यह काम अभी करना है, किन्तु ऐसा हुआ नहीं, सो यह कल्पना ही तो है। अधूरा तो कोई पदार्थ होता ही नहीं।

**प्रतिसमय प्रत्येक की परिपूर्णता का रहस्य-** प्रत्येक पदार्थ प्रति समय परिपूर्ण है। इस बात को अन्य दार्शनिकों ने इन शब्दों में कहा है- पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णात्पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। उनका है यह अद्वैतवाद का सिद्धान्त। यह पूर्ण है, यह पूर्ण है...। संस्कृत में "यह" इस शब्द के वाचक दो शब्द प्रधान हैं। एक अदस् शब्द और एक इदं शब्द। इदं मायने यह और अदः मायने यह। लेकिन ये भेद हिन्दी में तो नहीं आ पाते। संस्कृत में ये भेद आ जाते हैं। एक बहुत बड़ी निकटवर्ती 'यह' का नाम है और एक यह अन्य जगह के 'यह' का नाम है। जैसे कोई कहता है कि यह बन्धु मेरा है और कोई कहे कि मेरा तो 'यह' आत्मा है, तो 'यह' शब्द का प्रयोग दोनों जगह हुआ, फिर भी अन्तर है। इसका विश्लेषण करने वाला शब्द हिन्दी में नहीं है, लेकिन संस्कृत में है अदः और इदं। तो इस ही दृष्टा ने जब भेददृष्टि से देखा तो यह ब्रह्म दिखा, उसे भी 'यह' शब्द से बोला। जब अभेददृष्टि से देखा तब यह स्वयं ब्रह्म दिखा, उसे भी 'यह' शब्द से बोला। यह ब्रह्म यह पूर्ण है, परिपूर्ण है, अधूरा नहीं है। मोटे रूप में कहा कि यह ब्रह्म परिपूर्ण है और पूर्ण से पूर्ण निकलता गया है, पूर्ण ही निकलता है और पूर्ण से पूर्ण निकल करके भी रह क्या जाता है। पूर्ण ही रह जाता है ऐसा ही कोई विलक्षण हिसाब है कि पूर्ण है उससे जो भी निकला सो पूर्ण और जो शेष बचा सो भी पूर्ण। यह बात कही है उन्होंने अपनी भक्ति में, श्रद्धा में, जिसका कि प्रेक्टिकल उपयोग न कर सकेंगे, लेकिन यह अपने आपमें घटायें तो प्रेक्टिकल घटेगा, व्यावहारिक समझ बनाता हुआ घटेगा। यह मैं आत्मा पूर्ण हूँ। पूर्ण नहीं हूँ क्या? मेरा अभी सत्त्व बन नहीं पाया क्या? उस सत् का किसी ने निर्माण किया है क्या? कई समयों में निर्माण होता है क्या? नहीं। मैं पूर्ण हूँ, क्योंकि सत् हूँ। जो सत् होता है वह परिपूर्ण होता है। कोई भी चीज है और हो अधूरी, यह बात बन ही नहीं सकती। है तो अधूरी क्या? अधूरा तो कुछ होता ही नहीं। चाहे असत् कह लो। असत् भी कुछ होता नहीं, मगर समझ में बात आती है। खरगोश, मनुष्य, गधा आदिक के सींग असत् हैं, ऐसा लोग कहते भी हैं। प्रयोगानुसार ही समझ लीजिए, पर अधूरे के लिए तो बताओ कुछ कि फलानी चीज अधूरी है? अधूरा कुछ नहीं होता। तो यह मैं आत्मा पूर्ण हूँ। और पूर्ण से पूर्ण निकलता है। अब निकलने वाला क्या? निकलेगा कौन? मेरे इस पूर्ण में से मेरी ही तरह क्या कोई दूसरा पूर्ण निकलेगा? यह मैं दो तो नहीं हूँ कि पूर्ण में से पूर्ण निकल बैठे। पूर्ण में से निकलेगा तो पर्याय निकलेगी। द्रव्य नहीं, पदार्थ नहीं, कोई सत् नहीं। पूर्ण से जो निकलेगा वह क्या? पर्याय। और जो पर्याय निकली वह पूर्ण है। कोई पर्याय अधूरी नहीं होती। कोई काम कर रहे हैं, मान लो कि एक कौर उठाया खाने के लिए और उस कौर के उठाने में, मुँह तक ले जाने में मान लो आधा सेकेण्ड लगा। या उस आधे सेकेण्ड के हजारों भाग लगे तो थाली से हाथ एक अंगुल उठा, तो जो हाथ की परिणति बनी वह पूरी है कि अधूरी?...पूरी। एक अंगुल उठी तो वह भी पूरी पर्याय है। कल्पना में इस जीव ने अधूरा मान लिया है। समझो उसने यहाँ से

कौर उठाया मुख में रखकर चबाने के लिए और जरा सी देर लग गई तो बीच की जो हालत है उसको कल्पना से इसने अधूरा कहा, पर अधूरा तो कुछ होता ही नहीं। तो प्रतिसमय में जो मेरे आत्मा में परिणमन होता है वह परिणमन भी पूरा है। तो पूरा से पूरा निकला। इस पूरे मेरे आत्मा से यह पूरा पर्याय निकला तो वहाँ क्या बचा? पूरा ही बचा। शून्य से शून्य निकला तो क्या बचा? शून्य। पूरा से पूरा निकला तो क्या बचा? पूरा ही बचा। कुछ भी स्थिति हो मगर यह हालत जरूर है कि पूर्ण में से कुछ भी अंश निकल जावे मगर वह पूर्ण, पूर्ण ही बैठा हुआ है। वाह रे ! गजब का हिसाब, कितना गहरा तथ्य है।

**ऋजुसूत्रनय के आशय में प्रतिसमय की परिणतियों के विनाश की अहेतुकता-** यह सूक्ष्म नय की दृष्टि से एक समय के परिणमन की बात चल रही है कि वह राग परिणमन पूर्ण है। तो वह ऋजुसूत्रनय की दृष्टि है ना? वह तो एक समयवर्ती पर्याय को देख रहा है। वह कैसे बना? अपने आप बना। जैसे किसी लड़के से प्रेम हुआ तो क्या वह प्रेम उस लड़के से निकला? नहीं। किसी लड़के से नहीं निकला। कर्मोदय से नहीं निकला। पहले राग कर रहे थे उससे भी नहीं निकला। किन्तु वह राग अपने आप बना, अहेतुक है, उसका कोई कारण नहीं। सारी बात सुनते हुए ऋजुसूत्रनय की दृष्टि को न हटाना, नहीं तो समझ में न आयेगा। इसी प्रकार राग के नाश के सम्बंध में अगर पूछा जाये कि कैसे राग नष्ट होगा, तो उसका उत्तर है कि विनाश भी अहेतुक है, कोई अन्य किसी कारण से नष्ट नहीं होता। हुआ और नष्ट हो गया, बस यह उसी का ही तो काम है। किस समय हुआ और किस समय नष्ट हुआ? दो समय तो ठहरता ही नहीं, समय क्या बतायें? वही समय है राग के उत्पन्न होने का और वही समय है नष्ट होने का। वह राग किसी को उत्पन्न नहीं करता, किसी से नष्ट नहीं होता, ऐसा यह राग परिणमन का विनाश अहेतुक है, मिटेगा कैसे? एक समय को हुआ और अपने आप मिट गया। मिटाने वाला कोई नहीं है।

**ऋजुसूत्रनय में कारण द्वारा राग का अभाव किये जाने की अनुपपत्ति-** अगर कोई दूसरा हेतु हो राग को मिटाने वाला, तो यह बतलाओ कि उस कारण ने क्या किया? यही तो कहेंगे- राग का अभाव किया, तो राग का अभाव, इसका क्या अर्थ है? निषेध के दो अर्थ हुआ करते हैं। एक तो यह कि नहीं, बस; केवल अभाव खतमा। दूसरा यह कि उसके एवज में और कुछ। निषेध के दो अर्थ हर जगह होते हैं, जैसे कोई कहे कि अन्न को भोजन कराओ तो अन्न को मायने क्या? इसके दो अर्थ हुए। एक तो अन्न को भोजन कराओ इसका अर्थ है व्रती को भोजन न कराओ। दूसरा अर्थ है कि जो व्रत रहित है उसे भोजन कराओ। किसी कारण ने अराग बनाया, तो अराग किया, इसका अर्थ क्या कि कुछ नहीं किया। दूसरा करने के लिए कुछ न बताया जा सकेगा। इसे कहते हैं प्रसज्य प्रतिषेध, मायने बस राग का अभाव, राग का निषेध। किया क्या? अन्य कुछ नहीं। शून्य किया। करने को कुछ नहीं। निषेध का दूसरा अर्थ होता है पर्युदास। मायने राग का अभाव किया, मायने कुछ किया। क्या किया? कुछ। तो इन दोनों अर्थों में से अगर यह अर्थ लगाते हैं कि कारण ने राग का अभाव किया, मायने शून्य किया। जो राग प्रसज्य था, उसका प्रतिषेध किया, मायने

राग नहीं किया, तो इसका अर्थ है कि राग को नहीं करता। तो हेतु ने क्या किया? वहाँ तो हेतु में निषेध मात्र व्याप्त रहा। निषेध ही करने वाला तो रहा, अभाव का कर्ता तो न रहा, निषेध किया। यदि कहो कि रागाभाव करने का यहाँ पर्युदास अर्थ है, मायने राग का अभाव किया, याने करने में अभाव आया तो वह अभाव उस राग से भिन्न है कि अभिन्न? कारण ने राग का अभाव किया। क्या किया? राग का अभाव। यह अभाव राग से जुदा है या एकमेक चीज है? अगर कहो कि जुदा है तो अभाव क्या? राग तो ज्यों का त्यों रहा, क्योंकि राग जुदा है, अभाव जुदा है, अभाव किया तो कर दिया, मगर उससे राग पर कोई आंच नहीं आई। अगर कहो कि राग और अभाव दोनों एक है तो अभाव किया तो राग किया। जब इनमें एक बन गया तो अभाव किया, इसका अर्थ है कि राग किया। सो अनर्थ हो गया। तो राग का अभाव करना किसी हेतु से संभव नहीं। वाक्य ही नहीं बनता। उसका अर्थ ही नहीं बैठता, इसलिए राग का विनाश किसी कारण से नहीं होता। वह तो अपनी कला से उत्पन्न हुआ है और अपनी कला के अन्त से आप नष्ट होता है। तो राग का अभाव किया, इसका अर्थ अगर निषेधमात्र है तो करने की बात नहीं आयी। और अगर कुछ करने वाली बात है तो भिन्न है तो राग पर आंच नहीं, अभिन्न है तो अभाव किया का अर्थ है राग किया, तो राग तो पहले समय में ही उत्पन्न होगा। उत्पन्न होने से क्या किया? जो उत्पन्न हो चुका उसका करना क्या? निषेध की बात, अभाव की बात, विनाश की बात तो बाद में की जायेगी। तो जो उत्पन्न हो गया उसकी उत्पत्ति क्या? इस कारण यह समझों कि राग का विनाश भी अहेतुक है।

ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में बात यह है कि नाश का कारण जन्म हुआ, जन्म हुआ तो वह नष्ट हो गया। नाश का कारण जन्म है, और जन्म जिस समय हुआ उसी समय उसका नाश हो गया। वह ठहर नहीं सकता दूसरे समय में। तो पदार्थों के विनाश का कारण पदार्थों की उत्पत्ति है। इसका लम्बा अर्थ नहीं लगाना कि हाँ बात तो ठीक रही, मनुष्य के मरने के कारण मनुष्य का जन्म है, इतना लम्बा अर्थ नहीं है इस दृष्टि में, क्योंकि जन्म हुआ 50 साल पहले और मरण हो रहा 50 साल बाद, तो क्या 50 वर्ष तक जन्म होता रहा? 50 साल तक तो उसका जीवन चला, जन्म न चला, जन्म तो किसी सेकेण्ड में हुआ था, इसका संक्षिप्त अर्थ लेना है। जन्म होना वही मरण का कारण है, वही विनाश का कारण है। अर्थात् जिस समय जन्म हुआ उसी समय नष्ट हुआ, ऐसा यह राग परिणमन है। अगर उसी समय नष्ट न माना जाये, जो उत्पन्न हुआ वह दूसरे समय रह गया तो दूसरे समय रह गया उसमें जब कोई अड़चन न आयी तो तीसरे समय क्यों अड़चन आयेगी? तीसरे समय को राग आया, फिर उसके बाद के समयों में क्यों अड़चन आयी? पर ऐसा नहीं दिखता, इससे विदित होता है कि राग का जन्म ही राग के नाश का कारण बन जाता है। यह बात चल रही है सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के आशय की। इसमें बहुत अधिक समझ में आप लोगों को न आता होगा तो इतना तो समझ में आता ही होगा कि कितनी कठिन बात कही जा रही है? (हंसी)। और उससे यह अंदाज लगाया जा रहा होगा कि जिन ऋषि-संतों ने तत्त्व के विवेचन में इतना श्रम किया उनकी कितनी हम आप पर

करुणा बुद्धि थी? देखिये- उन्होंने कितने सूक्ष्म तत्त्व का किस-किस ढंग से दिग्दर्शन कराया? तो इस दृष्टि में जन्म ही पदार्थों के विनाश का कारण है क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न हुआ और एकान्तर समय में नष्ट ना हुआ हो तो बाद में भी किसी से नष्ट नहीं हो सकता। राग परिणति के सम्बंध में सूक्ष्म ऋजुनय की अपेक्षा से वर्णन आपने बहुत समय से सुना, कई दिनों से सुना। सुनकर ऐसा लगता होगा कि ऐसे राग परिणमन का क्या करें? न हाथ आता है, न कहने में आता है और ऐसा राग परिणमन जो होते ही नष्ट हो जाता है, पर पूर्ण है, किसी कारण में नहीं हुआ। तो उस राग से कर्म बन्ध तो होता न होगा? अच्छी सुनाई बात और ऐसा ही रहे तो विजय ही विजय है, न बन्ध होगा, न कर्म बन्ध। बात है, चल रही, मौज आ रहा, कोई खाने में मौज मानता है, यहाँ तत्त्व चर्चा में आनन्द आ रहा है, ज्ञान के आनन्द की तुलना विषय का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। विषयों के आनन्द में क्षोभ भरा हुआ है। आप कितना ही आनन्द भोग लें, कितना ही सुख भोग लें, पर कोई भी विषय सुख ऐसा नहीं जो शान्तिपूर्वक लूटा जाता हो, पर ज्ञान किया जाने का आनन्द शान्तिपूर्वक मिलता है।

**ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में बन्धबन्धकभाव की व बध्यघातकभाव की असंभूति-** समय मात्र राग परिणमन की बात है तो इसमें बन्धबन्धक भाव न बनेगा और फिर इसमें बध्यघातक भाव भी न बनेगा। कोई किसी की हिंसा करने वाला है ही नहीं। कोई किसी को मार नहीं सकता, कोई किसी का कुछ कर नहीं सकता। चीज है, एक-एक समय में है, वह स्वयं नष्ट हो जाती है, वह दूसरे का क्या करे? तो फिर किसी को कभी हिंसा भी न लगेगी, पाप भी न लगेगा, कर्म बन्ध भी न होगा। यह तो बड़ा आसान तरीका मिल गया। ऐसी अगर जिज्ञासा है तो इस सम्बंध में यही कहना है कि हाँ, ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में ऐसा है, जैसी कि जिज्ञासा हो और उसमें सोच डालना कि न उसमें कर्म बन्ध है, न उसमें हिंसा का दोष है, न उसमें पाप की बात है। हाँ बात तो ऐसी ही है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में न कोई बँधने वाला है और न बाँधने वाला, न कोई मरने वाला है, न मारने वाला। क्योंकि इस नय की दृष्टि में पदार्थ एक है और वह पदार्थ भी द्रव्य से एक, क्षेत्र से एक। राग एक समय में जो कुछ है उतना मात्र है। उसमें जब दूसरी बात ही नहीं है तो बन्धबन्धक भाव कैसे हो? बन्धबन्धक भाव होता है दो में। एक बँधने वाला और एक बाँधने वाला। इस नय की दृष्टि में बंधन नहीं। इस नय की दृष्टि में मरना मारना नहीं, क्योंकि इसका विषय एक है, और इस तरह दोनों का सम्बन्ध भी नहीं। सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में है, पुद्गल कर्म अपने स्वरूप में है, आत्मा अपने स्वरूप में है, और एक दूसरे के स्वरूप से बिल्कुल बाहर हैं। मानो दो भाई बहुत प्रेम करने के कारण एक दूसरे के गले मिलते हैं, दोनों एक दूसरे से चिपक कर हृदय से वात्सल्यता प्रकट करते हैं तो क्या वे दोनों एकमेक हो गए? अरे! वे दोनों ही अपने-अपने विकल्पों के क्षोभ अपने-अपने में मचा रहे हैं। यों ही प्रत्येक पदार्थ की बात है। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से रंच मात्र भी सम्बंध नहीं है, एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में प्रवेश नहीं

है। अब आपने जाना होगा कि यह राग परिणति जो बतायी जा रही है वह वर्णन में नहीं आ सकती। ऐसा सूक्ष्म विषय है। उसको कहने वाला दुनिया में कोई शब्द ही नहीं है।

**आत्मतत्त्व भावना की कल्याणसाधनरूपता-** जितना चिंतन मनन अपने आत्मा से सम्बंधित होगा, वह कल्याण में अवश्य साधनभूत है। अपने आत्मा का जो आजकल मलिन रूप चल रहा है, उसका भी विचार हो, वह भी कल्याण के लिए है। हाँ उस मलिन रूप में एकता हो जाये तो वहाँ तो आत्मा के सम्बंध में कुछ विचार ही नहीं रहा। अपने आपके सम्बंध में जितने चिंतन, मनन, विचार होंगे वे कल्याण के साधन हैं। यों तो सभी लोग मैं, मैं कहकर अपनी ही बात सोचते हैं लेकिन आत्मा की दृष्टि से अपनी बात नहीं सोचते। अन्दर से आवाज आती है, एक लगाव रहता है उसमें 'मैं' का प्रयोग करता तो है, मगर आत्मा है उस आत्मा के रूप से 'मैं' का विचार नहीं है। एक कुछ है, उसमें किसी तरह का विचार होता है- अज्ञानियों का, किन्तु आत्मा के ढंग से उस रूप विचार चले, वह किसी न किसी अंश में लाभकारी है। मैं मलिन हूँ, मेरी अवस्था इस रूप में नहीं है, जन्म मरण ये तो विडम्बना हैं, जन्म मरण से हमें छूटना है, किस प्रकार छुटकारा मिले? इत्यादि रूप से विचार होना चाहिये। जीवन में जैसे लोग अनेक प्रकार सोचते हैं कि मुझे यह करना है, यह करना है, तो वैसे ही उन्हें यह सोचना चाहिए कि मुझे तो इस जन्म-मरण से छूटना है। जन्म मरण से छुटकारा मिले, देह कर्म आदिक से सम्बंध न रहे, मैं केवल रह जाऊँ, यह बात उद्देश्य में आ जाये, फिर उसका कल्याण बन बैठेगा। उद्देश्य ही अभी नहीं बनाया बहुत से जीवों ने, इस कारण वे क्या प्रगति कर सकेंगे? जिनका उद्देश्य बन जाता है वे चक्रवर्ती भी हों और छहों खण्ड के राज्य में भी पल रहे हों, लेकिन उनकी जल्दी-जल्दी अपने उस आत्मतत्त्व पर दृष्टि पहुँचती रहती है। इसी कारण बताया है कि ज्ञानी चक्री इतनी सम्पन्नता होने पर भी उससे विरक्त रहते हैं। अब अपने आपके सम्बंध में जरा विचार कीजिए कि कैसे मेरा जन्म-मरण छूटे? जन्म-मरण का सम्बंध है देह से। नया देह मिले उसका नाम है जन्म। यह जीव देह से अलग हो रहा उसका नाम है मरण। तो जन्म और मरण से छूटना हो तो क्या किया जाना चाहिये? मैं देह से निराला हूँ ऐसा निरख लेना चाहिये। जिस देह से निराला होने की बात मन में ठानी है उस देह से निराला मैं अपने आपको अभी देख लूँ, बस यही जन्म मरण से छूटने का उपाय है। किसी कुमित्र से अगर दोस्ती छुटाना है तो दोस्ती छूटाने पर होता क्या है? पार्थक्य। जैसे पार्थक्य पहले हुआ करता है चित्त में, भाव में तब जाकर मित्रता छूटती है। इसी तरह देह की मित्रता अगर छोड़ना है तो देह से निराला यह मैं अब भी हूँ इस तरह स्वरूप दर्शन करें तो देह से निराला बन सकता हूँ।

निज को देहविविक्त समझने के लिये भेदविज्ञानपूर्वक सहज स्वतत्त्व की भावना की कर्तव्यता- अब देह से निराला स्वभावतः मैं हूँ, स्वरूप से हूँ, इस बात के समझने के लिए बड़ा पुरुषार्थ चाहिए, संयम चाहिए। अपने आपको केन्द्रित करना है, सब ओर से हटकर अपने आपके स्वरूप में लगना है, इसके लिए सर्वप्रथम भेदविज्ञान की आवश्यकता होती है। मिली हुई चीजों में पार्थक्य करके किसी एक में ही भक्ति रह जाये,

इसका उपाय तो यह है कि पहले भेद तो समझें कि मैं देह से निराला एक चैतन्य तत्त्व हूँ, केवल ज्ञानानन्द हूँ, भावात्मक हूँ, जिसको डले की तरह पकड़ा नहीं जा सकता। जो रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है, जिसका अपने आपका कोई आकार नहीं। अनादि से लेकर जिस-जिस देह में यह जीव पहुंचा वहीं उस देह के आकार प्रमाण हो गया। कभी कदाचित् समुद्घात की बातें आयी तो फैल गया आकार कुछ समय के लिए, किन्तु थोड़े समय बाद ही देह प्रमाण हो गया। देह से जब मुक्त होगा तो जिस देह में जो आकार था वह रह गया, सत्व के ही कारण। केवल अपने आपमें उसका क्या आकार है, यह नहीं बताया जा सकता। इसलिए आकार पर दृष्टि रख करके अनुभव नहीं किया जाता, किन्तु भाव पर, स्वरूप पर, स्वभाव पर दृष्टि रखकर अनुभव किया जाता है तो वह ज्ञानानन्द स्वरूप है। इस ज्ञान और आनन्द में भी आनन्द को मुख्यता नहीं देना है। मैं आनन्द हूँ, यह अनुभव स्वानुभव का साक्षात् उपाय नहीं बन पाता, क्योंकि ज्ञान रूप हूँ, ऐसे मनन अनुभवन में उपाय बनेगा, क्योंकि अनुभव करना है ज्ञान का और वह ज्ञान जब ज्ञेय बन गया तो वहाँ एकता हो जायेगी। तब वहाँ अनुभव बन सकता है। मैं ज्ञान मात्र हूँ बस यही बात चित्त में आनी है। इससे ही सर्व कल्याण निहित है।

**ज्ञानमात्र अनुभवन के यत्न में परम्परया साधन-** मैं ज्ञान मात्र हूँ, केवल ज्ञान स्वरूप हूँ, ऐसा अनुभव जगाना है और उसके लिए ये सब उपाय हैं। भेदविज्ञान, स्वाध्याय, मंदकषाय, सेवा-भाव, उदारता आदिक ये सब उसी के साधन हैं। जैसे एक मोटी बात परोपकार की लें तो प्रथम बात यह है कि जीव की तीन स्थितियाँ होती हैं- एक स्व का उपकार करना- आत्महित कर लेना, समाधिभाव लाना, समता में रहना, अपने आपमें मग्न रहना, यह है स्वोपकार। दूसरा होता है परोपकार। दूसरों की सेवा में रहना, यह है परोपकार और तीसरी चीज होती है खुदगर्जी। मायने पर्याय जिस तरह से आराम में रहे उस प्रकार के भाव रखना, यह खुदगर्जी है। किसी भी मनुष्य को देख लो- या तो वह खुदगर्जी में होगा या परोपकार में होगा या समता भाव में होगा। इन तीन बातों के अतिरिक्त चौथी बात नहीं है। मित्र भी हो सकता है, वहाँ यह अंश बना लीजिए कि यह इतने अंश खुदगर्ज है। मगर इन तीन बातों के सिवाय और चौथी बात क्या हो सकती है? बात यह देखना है कि आत्म हित के लिए साक्षात् साधन स्वोपकार है, और स्वोपकार में न रह सके तो उसकी सहज वृत्ति होगी परोपकार की, खुदगर्जी की वृत्ति न होगी। तो समझिये कि आत्महित की दृष्टि में परोपकार परम्परया साधन होता है, स्वोपकार साक्षात् साधन है। तो ये सब बातें जितनी व्यवहार में हैं वे सब हमारे कल्याण के साधन हैं। आत्महित से सम्बंध रखने वाले ये जितने चिंतन मनन आदिक हैं वे अपने आपको लाभकारी हैं। तो जीव में इस बात की ओर अधिक दृष्टि होनी चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। अब जिसका दर्शन ज्ञान है, जिसका दर्शन गुण है उस अपने आत्मा के सम्बंध में ध्यान करना है। जैसे आजकल प्रसंग चल रहा है, समय मात्र राग परिणति की बातें किस तरह होती हैं? एक समय का राग कैसे हुआ?



कैसे नष्ट हुआ? कारण उसका क्या है? सभी बातों पर विचार चल रहा है। तो इसका भी गहरा चिंतन होने पर आत्मा से सम्बंधित जितना चिंतन है वह सब हमारे लाभ के लिए है।

**प्रभुभक्ति की आत्मसम्बंधितता-** प्रभु-भक्ति यह भी आत्मा से सम्बंधित है। वह प्रभु क्या है शुद्ध आत्मा? शुद्ध आत्मा का लगाव होता नहीं अलग से। जैसे कि रिश्तेदारों में, मित्रों में अलग से कुछ लगाव सा होता है, शुद्ध आत्मा में अलग से लगाव नहीं है, किन्तु शुद्ध आत्मा का जो अनुराग है वह खुद को छूता हुआ सा रहता है। इसलिए प्रभु की जो भक्ति है वह आत्मा से सम्बंधित बात है। कहीं ऐसा तो है नहीं कि प्रभु भी परपदार्थ हैं और घर के बच्चे भी परपदार्थ है, तो जैसे प्रभु के दर्शन करें तो घर के बच्चों के भी दर्शन करें। अथवा जैसे घर के बच्चों की भक्ति कोई नहीं करता वैसे ही प्रभु की भक्ति भी न करना चाहिए। लेकिन जरा सोचो तो सही कि प्रभु की भक्ति में और घर के बच्चों की भक्ति में कितना अन्तर है? प्रभु का लगाव अपने लगाव को करता हुआ सा रहता है और बच्चों का लगाव अपने आत्मा का लगाव करता हुआ नहीं रहता। तो गृहस्थी में रहते हुए गृहस्थी में किए जाने वाले वे समस्त कर्तव्य परम्परा इस आत्म लाभ से सम्बंधित हैं। तो हमें अपने आत्मतत्त्व का चिंतन करने का ज्यादा ध्यान रखना चाहिए। जो इसी उद्देश्य से चलेगा वह भूल में न रहेगा। वह हर जगह अपने आप का ध्यान रखेगा और अपने आपको सावधान रखेगा।

**ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में वाच्यवाचक सम्बंध न हो सकने के वर्णन का उपक्रम-प्रत्येक पदार्थ है, वह निरन्तर परिणमता रहता है।** वस्तु में समझने को तत्त्व इतना है। अब उन परिणमनों में यह निरखा जा रहा है कि एक परिणमन कितना होता है? तो एक समय में जो परिणमन है वह एक परिणमन है। एक परिणमन एक समय से ज्यादा नहीं चलता और एक समय में एक से अधिक परिणमन नहीं होता। तो एक समय का परिणमन इतना एक सूक्ष्म ज्ञेय तत्त्व है कि जहाँ इन्द्रियाँ काम नहीं देती, बुद्धि काम नहीं देती, हाँ! युक्ति काम देती है, जिसके अनुसार उस एक समय के परिणमन के सम्बंध में बहुत कुछ वर्णन किया गया है। आत्मतत्त्व को उदाहरण में लिया। आत्मा में एक समय का जो परिणमन है उससे बंध्यबंधक भाव भी नहीं बनता, विशेष्यविशेषण भाव भी नहीं बनता, बध्यघातक भाव भी नहीं बनता, क्योंकि ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में केवल समयवर्ती तत्त्व ज्ञेय है, इसके आगे इस नय का काम नहीं है। तो जैसे समयवर्ती परिणमन के साथ अन्य सम्बंध नहीं बन पाते, उसी प्रकार उसमें वाच्यवाचक सम्बंध भी नहीं बनता, अर्थात् एक समय के राग परिणमन का वाचक कोई शब्द हो, जो इसको सही रूप में बता दे, ऐसा कोई शब्द नहीं है। जैसे यहाँ बोलते रहते हैं बहुत से शब्द खम्भा, चौकी आदिक तो मालूम होता ना कि चौकी शब्द तो वाचक है और यह जो पड़ी हुई चौकी है वह वाच्य है। तो जैसे व्यवहार में वाच्यवाचक भाव की बात आती है ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में वाच्यवाचक सम्बंध नहीं है।

ऋजुसूत्रनय के आशय में वाच्यवाचक सम्बंध न हो सकने के कारण वाच्यवाचक की एक काल में अनुपस्थिति तथा विभिन्नता- ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में वाच्यवाचक सम्बंध बनक्यों नहीं पाता, इसका कारण यह है कि उस परिणमन से पहले किस शब्द से कहना चाहिए? पहले कहेंगे राग शब्द से। तो इस राग शब्द से जो आपने अभी बोला, किस राग को जानना चाहिए? जब राग हुआ था उस समय तो राग शब्द बोला नहीं गया। जब राग शब्द बोला जा रहा है उस समय वह राग परिणमन नहीं रहा, क्योंकि यह राग परिणमन तो समय मात्र का हुआ ना। तो जिस समय हुआ वह राग परिणमन, उसी समय क्या राग शब्द बोला गया? कोई बोलता है क्या? शब्द के बोलने में कितना समय लग जाता है? जिस पदार्थ का लक्ष्य करके हम कुछ शब्द बोलते हैं तो लक्ष्य करने के बाद बोलना इसके बीच में कितना समय गुजर जाता है? जिस रागपरिणमन को हम राग शब्द से बोलेंगे वह रागपरिणमन न रहा अब जिस समय की राग शब्द बोला जा रहा है। तो जब वर्तमान में दो एक साथ न रह सके राग शब्द का प्रयोग और रागपरिणमन जिस राग के बताने के लिए राग शब्द का प्रयोग किया गया। तो जब दोनों हैं नहीं आमने सामने तब दोनों का सम्बंध क्या? समयवर्ती राग परिणमन का इस राग शब्द के साथ सम्बंध कुछ न रहा। क्योंकि राग परिणमन का भिन्न समय में जीवन था, इस राग शब्द का भिन्न समय में जीवन था। इस राग शब्द का भिन्न समय में जीवन है। तो जब इन दोनों का सम्बंध नहीं बन सकता तो वाच्यवाचक भाव कैसे आया? यदि यह हठ करो कि नहीं हैं आमने-सामने रागपरिणमन और राग शब्द। एक साथ नहीं है, सम्बंध नहीं है फिर भी राग शब्द वाचक है और राग परिणमन वाच्य है। अगर सम्बंध रहित पदार्थों में वाच्यवाचक भाव मान लिया जाये तो कोई सा भी शब्द सारे विश्व का वाचक बन जाये, क्योंकि अब तो सम्बंध के बिना वाच्यवाचक भाव मानने लगे तब तो कोई वाचक ही न रहेगा। कोई वाच्य ही न रह सकेगा। तो यह समयवर्ती राग परिणमन इतना सूक्ष्म है कि इसके साथ वाच्यवाचक सम्बंध भी न बन पायेगा। फिर दूसरी बात यह है कि राग है भिन्न पदार्थ और राग शब्द है भिन्न पदार्थ। भिन्न-भिन्न पदार्थों का सम्बंध क्या?

ऋजुसूत्रनय में तीन निक्षेपों की योजना- यद्यपि सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में वाच्यवाचक सम्बंध नहीं है, तथापि यह न समझना सर्वथा कि वह बात किसी प्रकार वर्णन में ही नहीं आ सकती। उसका स्थूलरूप बनाकर, व्यवहाररूप बनाकर वर्णन हो सकता है। तभी वर्तमान मात्र परिणमन के बताने के लिए तीन निक्षेप काम आते हैं- नाम निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप। निक्षेप कहते हैं किसी निर्णय में पहुंचने को, किसी निर्णय में पहुंचाने को। निश्चय में पहुंचा देवे, उसका नाम निक्षेप है जिससे कि व्यवहार चलता है। निक्षेप के द्वारा व्यवहार चलता है। तो राग परिणमन को हम तीन निक्षेपों को जान सकते हैं। [नामनिक्षेप]- उसका नाम रख दिया राग। नामनिक्षेप तो लोगों की कल्पना की बात है, जिसका जो नाम धर दे। नाम धरे बिना तो व्यवहार चल ही नहीं सकता। किसके बारे में बात करेंगे? किसका निर्णय करना है? नाम तो लेना ही पड़ेगा। नाम बिना कुछ बात नहीं चलती। तो नाम एक ऐसा मूल है। जब किसी प्रसंग में, समारोह में, विवाह आदिक

अवसर में स्त्रियां बैठती हैं गीत गाने के लिए और कोई गीत शुरू नहीं हो पाता, कोई स्त्री कहती कि तुम गाओ, कोई कहती तुम गाओ। तो कोई स्त्री कहती कि तुम नाम तो धरो, उठा हम लेंगी याने तुम किसी गीत के दो अक्षर तो बोलो, फिर हम उसे सम्हाल लेंगी। तो चाहे आगे उसका विश्लेषण न कर सकें कुछ, लेकिन बात यह पायी गई कि किसी चीज का प्रवेश करने के लिए पहले नाम की बात आती है। अरे तो उस उस गीत का कोई नाम तो धरे, फिर उसको बड़ा लेंगे, सम्हाल लेंगे, साथ बोल लेंगे। किसी पुरुष का कोई नाम भी न हो तो उससे क्या व्यवहार चलेगा? क्या लेनदेन होगा, क्या आज्ञा होगी? कुछ बात ही नहीं बन सकती। किसी भी चीज का कोई नाम न हो तो वह चीज व्यवहार में नहीं आ पाती। विकार यों नहीं रहता कि परिणमन न हो। वह तो परिणमन उसका व्यवहार है, होगा ही, मगर मनुष्य उसका उपयोग करें-करायें, इसमें बाधा आती है। तो समयवर्ती राग परिणमन में एक तो नामनिक्षेप से बोध की बात चलती है। ऋजुसूत्रनय के आशय में स्थापना निक्षेप से राग परिणमन की जानकारी नहीं बनती, क्योंकि स्थापना निक्षेप में चाहिए दो चीजें सामने। किसी में किसी की स्थापना करना, जैसे मूर्ति में भगवान की स्थापना करना। तो ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में दूसरा कुछ रहता ही नहीं है। तो स्थापना निक्षेप न बन सकेगा। द्रव्यनिक्षेप स्थूल दृष्टि में बनेगा, क्योंकि द्रव्य निक्षेप में काल लम्बा होता है, लेकिन ऋजुसूत्रनय में लम्बा समय है नहीं। एक समय की परिणति को ग्रहण करता है। अर्थात् ऋजुसूत्रनय जो कि परिणमनरूप से कहा जा रहा इसलिए तो ऋजुसूत्रनय का विषय है, लेकिन अनेक परिणमनों की बात है वहां, इस कारण स्थूल कहलाता है। वहाँ द्रव्यनिक्षेप बनता है। और भावनिक्षेप तो वर्तमान समय की बात को वर्तमान में कह सकना सो भावनिक्षेप है। ऋजुसूत्रनय में निक्षेपों का संयोजन स्थूल रूप से है। अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो समय मात्र के राग परिणमन को कह सकने वाला दुनिया में कोई शब्द ही नहीं हो सकता। क्योंकि जब शब्द बोला गया तो वह राग न रहा जिस राग को हमें बताना था। तो वाचक और वाच्य आमने-सामने जिस समय हों उनकी तब तो बात बनती। अब वाचक शब्द तो उत्पन्न होगा बहुत बाद में और पर्याय हो चुकी पहले तो कैसे वाच्यवाचक बने? तो सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में वाच्यवाचक सम्बंध भी नहीं होता।

**आगमगम्य स्वप्रतिष्ठामूलक सूक्ष्म अर्थपर्याय-** इस प्रसंग में जरा पर्यायों का विशेष ज्ञान करना है। तो पर्यायों के बारे में बतला रहे हैं और इस ढंग से बतलावेंगे कि उसमें यह जानकारी आ जायेगी, इस क्रम से बतावेंगे जिससे यह विदित हो जाये कि इसके बाद की यह पर्याय स्थूल है, इसके बाद की यह पर्याय मोटी बात है। जो पहले कहा वह अत्यन्त सूक्ष्म होगा, जो उसके बाद कहा जायेगा वह उससे कोई मोटी बात होगी। ऐसी पद्धति से सिलसिलेवार कुछ पर्यायों का नाम ले रहे हैं, सो नाम लेते समय भी ध्यान से सुनो और उनका क्रम से विश्लेषण भी किया जायेगा, जिससे विशेष बोध होगा। इन पर्यायों को हम 12-13 रूपों में बाँट रहे हैं। पहला अर्थपर्याय- अर्थपर्याय बहुत सूक्ष्म पर्याय है, और यों समझिये कि वस्तु की सत्ता के लिए वस्तु में जो निरन्तर षट्गुण-वृद्धि-हानि रूप से परिणमन चलता रहता है वह अर्थपर्याय है। एक अवस्था

से जब दूसरी अवस्था बनती है उस बीच में वहाँ इतना महान परिवर्तन हो जाता है यह बात इस निगाह से समझ में न आयेगी, लेकिन आचार्य बतलाते हैं कि वहाँ षट्गुण हानि वृद्धि हुई, उतना परिणमन हुआ। जैसे कभी देखा होगा कि बिजली जल रही है, लगातार जल रही है, उसमें कोई बहुत सूक्ष्म खोजी होगा तो वह जान लेगा कि प्रतिसमय अथवा व्यवहार में ले लो तो प्रति सेकेण्ड के 100 वें हिस्से में जो बिजली का प्रकाश है उससे अगले क्षण में बिजली का प्रकाश कुछ और भाँति हो गया, कम या तेज। और उस कमी तेजी के बीच में उसमें कितने अंश का परिणमन हुआ है, यह खोजने वाला जान सकता है। या तो उस एक वोल्ट में भीतर में भी बहुत से वोल्ट के अंश हैं और एक क्षण के उजले के बाद दूसरे क्षण का जो उजेला होने लग रहा है उसका भी बराबर वही का वही उजेला है, लेकिन उसमें परिवर्तन कितना अधिक हो गया, यह युक्ति से समझ में आ जाता है। और कभी-कभी तो स्पष्ट आँखों से भी समझ में आ जाता है कि कोई अंगुलि बेंच में मारकर तुरन्त उठाया तो बेंच के छुवे जाने में कितना समय लगे, उतने समय में कभी बिजली में भी यह बात देखने को मिल जाती है कि लो थोड़ा उजेला कम हुआ, फिर ज्यों का त्यों, इतनी देर में कितनी हानि वृद्धि हुई? बहुत बड़ी संख्या में हानि वृद्धि हुई। तो यों ही समझिये कि प्रत्येक पदार्थ में एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था जो बनती है वह स्वभावतः बहुत बड़ी हानि वृद्धि को लेकर बनती है।

**स्वभावपर्याय में अर्थपर्याय का निरीक्षण-** यहाँ उदाहरण दिए जा रहे हैं विभाव पर्यायों के, मगर स्वभावपर्याय केवल ज्ञानपर्याय में भी प्रतिसमय षड्गुण हानि वृद्धि सहित केवलज्ञान पर्याय होता रहता है। एक समय की केवलज्ञान पर्याय के बाद दूसरे समय का केवलज्ञान पर्याय होता है, उस बीच भी षट्गुण हानि वृद्धि है, और इतने पर भी वहाँ यह अन्तर नहीं आ पाता कि केवलज्ञान ने जितना सारे विश्व को जाना उससे जरा भी कम दूसरे ज्ञान में आया हो सो नहीं, या कुछ अधिक आया हो सो नहीं। और फिर भी षट्गुण हानि वृद्धि उस बीच में आ गई। यह सब कुछ युक्ति और अंदाज की बात है और आगम की बात है। एक मोटा दृष्टान्त ले लो। कोई मान लो 40-50 करोड़ का धनिक पुरुष है, करोड़पति कहलाता है, उसके यदि एक नया पैसा कम हो गया तो क्या करोड़पति मिट गया? बढ़ते जावो, हजार पैसे कम हो गए या बढ़ गए तो क्या उस करोड़पति में कोई आँच आयी? हजार रुपये कम हो गए या बढ़ गए तो करोड़पति कहलाने में कोई बाधा है क्या? लाखों भी कम हो गए तो करोड़पति को कुछ बाधा नहीं। तो यह समझ लीजिए कि वे अविभाग प्रतिच्छेद इतने सूक्ष्मरूप को लिए हुए हैं कि उनसे अनन्त गुने भी वृद्धि हानि हो जाये तो भी ज्ञान में जो व्यक्त रूप होता है उसमें अन्तर नहीं आ पाता। तो यों एक समय का परिणमन जो वस्तु में वस्तु के सत्त्व की प्रतिष्ठा के लिए है, सत्ता रह पाती जब, तब अगुरुलघुत्व परिणमन कहलाता है पदार्थ में। तो वह अर्थ पर्याय है। आपने अंदाज किया होगा कि ऐसी अर्थपर्याय कितनी सूक्ष्म परिणति है?

**स्वभावगुणव्यंजनपर्याय-** दूसरे नम्बर पर निरखियेगा, स्वभावगुणव्यंजनपर्याय। उदाहरण में मान लीजिए। जैसे केवलज्ञान है, प्रभु का आनन्द है, प्रभु के गुणों का विकास है वह पर्याय स्वभावगुणव्यंजनपर्याय है। यहाँ

व्यंजनपर्याय का अर्थ है व्यक्त पर्याय। आकार से मतलब नहीं। व्यंजन का अर्थ है जो व्यक्त हो गया हो। हम आपको पदार्थ का आकार बहुत स्पष्ट रहता है। खम्भा खड़ा है तो इसकी लम्बाई चौड़ाई हमारे ज्ञान में बहुत स्पष्ट है। उतना स्पष्ट हम इस खम्भे के गुणों की पर्याय को नहीं जान पाये। तो सहसा स्पष्ट बोध होने के कारण इस आकार को द्रव्य की व्यंजनपर्याय कह सकते हैं और व्यक्त होने के कारण गुणों की पर्याय को भी व्यंजनपर्याय कह सकते हैं। प्रसंग के अनुसार दोनों का जुदा-जुदा अर्थ समझना है। तो स्वभावगुणव्यंजनपर्याय केवलज्ञानानन्द प्रभु की परिणति यह अर्थपर्याय की अपेक्षा कुछ स्थूल बात है, फिर भी आगे जो और 10-11 पर्यायें बतायी जायेंगी उनकी अपेक्षा सूक्ष्म है। भगवान का केवलज्ञान परिणमन किस प्रकार चल रहा है? एक अवस्था से दूसरी अवस्था होती है। उस बीच कितना परिवर्तन हो गया है, और इतना परिवर्तन होने पर भी ज्ञान की व्यंजना में कोई अन्तर नहीं आया। तो आप समझिये कि भीतर कितना बड़ा स्वभाव भरा है, वह करोड़पति का वैभव कितना बड़ा है कि लाख रूपये भी घट जाये तो करोड़पति को आँच नहीं आती। यह जानियेगा कि करोड़पति की निधि कितनी बड़ी होती है? केवलज्ञान की निधि कितनी बड़ी होती है कि वहाँ अनन्त गुणवृद्धि-हानि होने पर भी ज्ञान में सारा विश्व जैसा पहले आया वैसा ही अब आया, हीनाधिकता नहीं है। जैसे लाख की अधिकता होने पर भी करोड़पति से बढ़कर नहीं हो गया, लाख का विनाश होने पर भी करोड़पति मिट नहीं गया, इससे वैभव की विशालता का अंदाज होता है। तो यह स्वभावगुणव्यंजनपर्याय है। भगवान का केवलज्ञान और अन्य परिणमन भी किस-किस प्रकार होते रहते हैं, उनको अब समझने में भी एक सूक्ष्मतया बुद्धि लगानी पड़ती है और यह स्वभावगुणपर्याय अर्थपर्याय की अपेक्षा से स्थूल है। अर्थपर्याय में यदि सत्ता कायम रखने मात्र के लिए जो परिणति हो उसे बतलाया और स्वभावगुणपर्याय ने वस्तु में पर्याय का व्यक्त रूप बताया। वह व्यक्त रूप चूंकि स्वभाव के अनुरूप है इस कारण स्वभाव की तरह सूक्ष्म है, फिर भी अर्थपर्याय की अपेक्षा से ये स्वभावगुणपर्याय कुछ विशेष अथवा व्यक्त होने से स्थूल रूप है।

**स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय की परिस्थिति-** स्वभावगुणव्यंजनपर्याय से स्थूलरूप होता है स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय। जैसे सिद्ध भगवन्तों में उनके प्रदेश का आकार सोचा जाता तो वह जो आकार परिणमन है, आकार का होना रहना है यह पर्याय उन केवलज्ञानादिक भाव पर्यायों से स्थूल रूप से है, सुगम स्पष्ट जरा समझ में भी आता है। तो ये तीन पर्यायें कही गईं- अर्थपर्याय, स्वभावगुणपर्याय और स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय। ये क्रमशः पहले से स्थूल हैं और अर्थ पर्याय तो इतनी सूक्ष्म है कि जिनकी पकड़ यहाँ होती ही नहीं, अतएव उसे केवलीगम्य और आगमगम्य बताया है। हम आप भी जो बात करते हैं वह आगम के अनुसार करते हैं और युक्ति अंदाज भी जितना बन सकता है उतना बनाकर करते हैं, मगर उन युक्ति अंदाजों में भी अर्थपर्याय का स्वरूप पूर्णतया ग्रहण में आ नहीं सकता। तो यहाँ यह बताने के लिए कहा जा रहा है कि इन पर्यायों की जो समयवर्ती पर्यायें हैं इनका वाचक कोई शब्द हो नहीं सकता। पर्यायें सूक्ष्म हैं अर्थपर्यायें, याने पदार्थ में अपने

आपकी सत्ता की प्रतिष्ठा रखने के लिए जो स्वयं सहज षट्गुण हानिवृद्धिरूप में परिणमन चलता ही रहता है, वह अर्थपर्याय कहलाती है। इस अर्थ का कोई रूप व्यक्त नहीं है किन्तु है सब पर्यायों का आधार। यदि अर्थपर्याय वस्तु में अन्तः न चले तो कोई भी व्यक्त पर्याय बन नहीं सकती। इससे स्थूल है स्वभावगुणपर्याय। जैसे केवलज्ञान का परिणमन। यह स्वाभाविक परिणमन है। यह अन्य कही जाने वाली पर्यायों से सूक्ष्म है। उससे स्थूल है स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय मायने सिद्ध भगवान का आकार या परमाणु का आकार, जो स्वभाव का आकार है द्रव्यों की वह पर्याय।

**विभावसम्यग्ज्ञानपर्याय व विभावमिथ्याज्ञान पर्याय की परिस्थिति-** स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय से स्थूल है विभावसम्यग्ज्ञानपर्याय। अथवा ज्ञान के सम्बंध में मूल प्रकार समझना हो तो दो प्रकार समझना चाहिये- एक शक्तिरूप ज्ञान, दूसरा व्यक्तिरूप ज्ञान। शक्तिरूप ज्ञान की यहाँ चर्चा नहीं की जा रही, व्यक्तिरूप जो ज्ञान है, जो ज्ञान प्रकट होता है वह ज्ञान दो प्रकारों में विभक्त है। विभावज्ञानपर्याय और स्वभावज्ञानपर्याय। स्वभावज्ञानपर्याय तो केवल एक ही है- केवलज्ञान और वह सम्यग्ज्ञान रूप ही है पर विभाव ज्ञानपर्याय दो प्रकार की है- सम्यग्ज्ञान रूप और मिथ्याज्ञान रूप। सम्यग्दृष्टि के होने वाले मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ये विभाव सम्यग्ज्ञान पर्याय हैं, इस तरह के ज्ञानों में परिणमना जीव का स्वभाव नहीं है, ये तो विभाव कहलाते हैं, और मिथ्याज्ञान है नहीं सम्यग्दृष्टि के, इस कारण सम्यग्ज्ञान है, तो विभावसम्यग्ज्ञान पर्याय इससे स्थूल है, इससे स्थूल परिणमन है विभावमिथ्याज्ञानपर्याय। कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान, इनकी बातें बहुत ढंग से लोगों को विदित हो जाती है।

**अव्यक्त विकारपर्याय की परिस्थिति-** विभावमिथ्याज्ञानपर्याय से स्थूल है अव्यक्त विकारपर्याय। यहाँ यह बात जानना है कि ज्ञान का जो परिणमन होता है वह जाननरूप परिणमन है। उस जानन में ही विभाव और स्वभाव की बात है। जो जानने की जो पर्यायें हैं उनसे स्थूल पर्यायें विकार की होती हैं। जानने में तो जानना ही है। यह अपनी जाति में कैसे ही विभावरूप हो, पर जानने की पर्याय से राग-द्वेष की पर्याय स्थूल होती है। जानने में तो चेतना की बात है, प्रतिभास की बात है। विकार तो जड़ है, अचेतन है, उसमें समझ नहीं है, अतएव "जानना" चाहे कितने ही विभाव रूप हो, उससे भी स्थूल माना जाता है। विकार पर्याय चाहे वह विकार पर्याय अव्यक्त हो, श्रेणियों में चढ़ने वाले साधुओं के भी कहीं-कहीं राग-ष पर्याय है। 8वें, 9वें गुणस्थान में राग द्वेष पर्याय है और वहाँ राग द्वेष का परिणमन भी चलता है किन्तु अव्यक्त है। उन ऋषियों तक की भी वेदना में नहीं आता। इतनी सूक्ष्म अव्यक्त विकार पर्याय मिथ्याज्ञान की पर्याय से भी स्थूल है।

**सुखानुभव, व्यक्तविकारपर्याय, व्यक्त मिश्रश्रद्धापर्याय, अगृहीत मिथ्यात्व व अशुद्ध द्रव्यव्यंजनपर्याय की परिस्थिति-** अव्यक्त विकारपर्याय से स्थूल है सुखानुभवपर्याय। राग द्वेष का अनुभव होता है, एक तो ऐसा

परिणमन, अनुभव नहीं, किन्तु हो रहा है राग द्वेष अव्यक्त रूप से। अब उसके बाद जब विकार का व्यक्तरूप आयेगा, विकार का अनुभव बनने लगेगा तो उन विकार के सर्व अनुभवों में प्रथम बात कह रहे हैं सुख के अनुभव की। अव्यक्त विकारपर्याय से स्थूल है सुख की अनुभव पर्याय याने उससे स्थूल है सुख का अनुभव वाली पर्याय। तभी तो लोग कहते हैं कि सुख के दिन तो बड़ी जल्दी व्यतीत हो जाते हैं, उनका कुछ पता ही नहीं पड़ता और दुःख के दिन बिताये नहीं बीतते, दुःख का एक घंटा भी महीनों जैसा दिखता है। उससे स्थूल है व्यक्तविकारपर्याय। जो नाचते हुए क्रोध, मान, माया, लोभादिक हैं वे सब व्यक्त हैं, ऐसे विकार पर्याय स्थूल हैं। उससे स्थूल है मिश्रश्रद्धापर्याय। श्रद्धान में जो मिश्रण होता है न मिथ्या रूप रहा, न सम्यक् रूप। मिश्रश्रद्धापर्याय से स्थूल है अज्ञानी जीव का गृहीतमिथ्यात्वपर्याय। जैसे कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र इनको हित रूप मानना ये सब पर्यायें उन पर्यायों से कुछ स्थूल हैं, व्यक्त हैं, यों स्थूल कही जा रही हैं कि इनका परिणाम बुरा होता है। और उससे भी बुरी पर्याय है अज्ञानी जीव के अगृहीत मिथ्यादर्शन की पर्याय। सारा संसार देह को आत्मा मानकर रूल रहा है। अपने सुख दुःख कषायों को यही मैं सब कुछ हूँ ऐसा भीतर में श्रद्धान करते हुए रूल रहा है। यह बहुत खोटी पर्याय है और फिर सबसे अधिक व्यक्त है, स्थूल है, इन्द्रिय से भी गोचर है, ऐसी पर्याय है तो अशुद्ध द्रव्यव्यंजनपर्याय। मनुष्य, पेड़, कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी आदिक ये सब जो आकार बने हैं, ये सब अशुद्ध द्रव्यव्यंजनपर्याय हैं।

**अर्थपर्याय की सूक्ष्मता का कथन-** उक्त पर्यायों का कथन इसलिए किया जा रहा है कि इसमें पहले यह समझा जायेगा कि सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय जिस अर्थपर्याय को ग्रहण करता है, वह अर्थपर्याय कितना सूक्ष्म है जिसको कि ऋजुसूत्रनय ग्रहण करता है। ऋजुसूत्रनय का विषय ऐसा निर्विकल्प है। इन सब पर्यायों में अर्थपर्याय तो एक ही है, उसका भेद नहीं है और व्यंजन पर्यायें ये सभी कहलाती हैं। गुणपर्याय भी व्यक्त है इस दृष्टि से व्यंजन पर्याय है। पर प्रदेश का आकार बनाना वह भी व्यंजनपर्याय कहलाता है। अर्थपर्याय और समस्त गुणव्यंजनपर्याय इनका प्रतिबोध करने के लिए स्थूल दृष्टान्त बतायें- जैसे कोई यंत्र चल रहा है शुद्ध रूप से जिसका चक्र चल रहा है और उस चक्र पर यदि कोई कपड़ा वगैरह गिर जाये तो जिस प्रकार वह चक्र घूम रहा है उस प्रकार से वह कपड़ा भी घूमने लगता है। जब कपड़ा घूमने लगता है तो लोगों को दिखता है कि यह चक्र चल रहा है और कुछ न दिखे तो उस चक्र का पता ही नहीं पड़ता कि यह चल रहा है। और उस पर विकार आ जाये, कपड़ा वगैरह उपाधि का सम्बंध आ जाये तो उसका घूमना व्यक्त दिखने लगता है। तो जो व्यक्त दिखा उसका कारण वह शुद्ध घूमना है। अगर शुद्ध घूमना न बन रहा होता तो यह विकार और कपड़ा घूमने की बात कैसे आ सकती? पदार्थ में जितनी भी परिणतियाँ होती हैं उन सब परिणतियों का आश्रय अर्थपर्याय है, ऐसी अन्तर्गत अर्थपर्याय को सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय ग्रहण करता है। अर्थपर्याय के भेद इस कारण नहीं है कि अगुरुलघुत्व गुण की षट्गुण हानि वृद्धि में उसका परिणमन बताया है, जिसका



काम है अपने स्वभाव की प्रतिष्ठा करना। अर्थपर्याय न हो तो सत्ता नहीं रह सकती। यह अर्थपर्याय समस्त द्रव्यों में अनादि अनन्त समान है। अर्थपर्याय के कोई भी भेद नहीं हैं।

**व्यंजनपर्यायों में प्रभुज्ञान की प्रमुखता-** जितनी पर्यायें हम सबको विदित होती हैं उन सब पर्यायों का नाम व्यंजन पर्याय है। यद्यपि रूढ़िवश व्यंजनपर्याय का अर्थ है आकार पर्याय, लेकिन जो व्यक्त हुआ है, जो व्यक्त हो सकता है ऐसे परिणमनों का नाम व्यंजनपर्याय है। तो गुणपर्याय भी व्यक्त होता है और आकारपरिणमन भी व्यक्त होता है, इन सब पर्यायों में प्रतिसमय का परिणमन तो होता ही है, पर हम आप उसको ग्रहण नहीं कर पाते। हमारा उपयोग अन्तर्मुहूर्त तक चले तो उसे हम ग्रहण कर सकते हैं, पर परिणमन होता है हम आपमें प्रत्येक समय नवीन नवीन ही, ऐसा एक-एक समय का परिणमन केवली भगवान के केवलज्ञान में हाथ पर रखे हुए आँवले की तरह स्पष्ट रहता है। ग्रन्थों में आँवले का दृष्टान्त दिया है। जैसे हाथ रखा हुआ आँवला। सभी चीजों का दृष्टान्त दे सकते थे पर अन्य चीजों को छोड़कर आँवले का दृष्टान्त क्यों आचार्यों को पसन्द आया? क्या ऐसा नहीं कह सकते थे कि हाथ पर रखे हुए आम की तरह, हाथ पर रखे हुए डेला पत्थर या मणि की तरह। इन सबको दृष्टान्त में न लेकर जो हाथ पर रखे हुए आँवले की तरह, ऐसा जो दृष्टान्त दिया है उसका कारण यह है कि आँवला करीब 6 कलियों का होता है, उन छहों कलियों का पृथक्-पृथक् स्पष्ट बोध होता है, और आकार भी करीब-करीब उनका एक समान होता है। अन्य फल तो कुछ भिन्न-भिन्न आकार के भी होते हैं, जैसे आम के फल कितने ही प्रकार के होते हैं। हाथ पर रखा हुआ आँवला समस्त कलियों सहित ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार समस्त पदार्थ, समस्त पर्यायें सत् ज्ञात होती हैं केवलज्ञान में। यह समझाने के लिए दृष्टान्त दिया जाता है। एक समय का परिणमन केवलीगम्य है। होता है सर्व पदार्थों में। वह भी किसी तरह ज्ञात हो तो क्षोभ से रहित है।

**एकत्वनिश्चय की महिमा-** एकत्व का कितना माहात्म्य है? केवल एक द्रव्य। जिसमें दूसरे द्रव्य का सम्बंध नहीं, ऐसा एक द्रव्य ज्ञात हो जाता है तब मोह का प्रक्षय हो जाता है। यह सम्यग्ज्ञान अपनी महती प्रतिष्ठा में होता है। केवल एक क्षेत्र मायने किसी भी पदार्थ के प्रदेश ही मात्र। अन्य पदार्थों का प्रवेश नहीं। इन प्रकार अद्वैत क्षेत्र सम्यग्ज्ञान की महाप्रतिष्ठा में है। इसी प्रकार एक समय की पर्याय परिपूर्ण पूर्व और उत्तर पर्याय के सम्बंध को न रखकर निरपेक्ष रूप से जाने हुए की बात केवलज्ञान में होती है और युक्तियों से हम आप भी जानते हैं। तो त्रिकालवर्ती द्रव्य को निरखने पर जैसे एक अखण्ड पदार्थ ज्ञेय होता है इसी प्रकार एक समयवर्ती परिणति मात्र को निरखने पर भी एक अखण्ड तत्त्व ज्ञात होता है। यही कारण है कि जब हम द्रव्य को विशाल करके निरखते हैं तो विकल्पों के टूट जाने का मौका मिलता है, इसी प्रकार जब हम एक समय मात्र की परिणति को निरखने चलते हैं तो वहाँ भी विकल्प टूट जाते हैं। विकल्पों के चलने के लिए होना चाहिए लगाव। लगाव की बात अखण्ड पदार्थ के ज्ञान में नहीं है। इससे मोह तोड़ने का उपाय अद्वैत द्रव्य

स्वरूप का ज्ञान है। और समयमात्र परिणति के ज्ञान करने पर वह चूँकि ज्ञान द्रव्य का ही रह जाता है इसलिए इस प्रसंग में भी निर्विकल्प होने का उपाय एकत्व निश्चयगत द्रव्यस्वरूप का ज्ञान है।

**स्वभावदर्शन का पौरुष-** हम अपने आपके स्वभाव पर दृष्टि दे तोइस दृष्टि के प्रसाद से हमें आत्मस्वरूप का भान होगा। स्वभाव कैसे ज्ञात होता? जल है, गर्म है, पर हम गर्म जल के स्वभाव का ज्ञान कैसे कर लेते हैं? भले ही गर्म है यह जल, मगर जल का स्वभाव गर्म नहीं है, ठंडा है। जैसे हम जल के गर्म रहते हुए भी गर्म जल में जल के स्वभाव का ज्ञान कर लेते हैं इसी प्रकार पारखी लोग ऐसी विकारपर्याय में चलते हुए की स्थिति में भी स्वभाव का बोध कर लेते हैं। जैसे एकसरा का यंत्र मनुष्य के चाम, खून आदिक को न ग्रहण करके एक हड्डी को ही ग्रहण करता है, फोटो ले लेता है, इसी प्रकार पारखी जीव देह को, कषायों को, कर्मों को इन सबको ग्रहण न करके केवल एक स्वभाव को ग्रहण कर लेता है। उसके लिए चाहिए भेदविज्ञान। उस भेदविज्ञान के बल से इन सब पर्यायों से पार होकर एक स्वभाव का ग्रहण करे, यही आत्मा के आनन्द की प्रतिष्ठा का उपाय होगा। इस प्रकार मोह राग द्वेष दूर हों, ज्ञान की समृद्धि बने, बस यही उपाय करने योग्य है और उससे ही हम आपका कल्याण है। आज यह 9 वाँ परिच्छेद पूर्ण हो रहा है। इसमें कुछ नयों के ज्ञान से ऐसा लगता होगा कि कभी कुछ कथन आया, कभी कुछ। कुछ विरुद्ध जँचता होगा, पर विरुद्ध नहीं है। यहाँ किस नय की दृष्टि में निरखने पर क्या नजर आता है, वह विषय बताया गया। प्रयोजन सबका यह है कि जिस किसी भी उपाय से शुद्ध ज्ञेयतत्त्व ज्ञान में आये और मोह राग द्वेषादिक विकारपरिणमन दूर हों, जिससे आत्मा के शुद्ध आनन्द की प्राप्ति हो। हम आप संसार के सभी जीवों की एक वाञ्छा है कि शान्ति प्राप्त हो। अतः सत्य सहज स्वाधीन शान्ति की उपलब्धि के अर्थ हमारा क्या कर्तव्य है इसके विचार में अभी चल रहे थे। सर्व प्रथम यह बोध करना आवश्यक है कि वास्तविक शान्ति क्या होती है? फिर दूसरी बात यह जानना है कि शान्ति जिसे चाहिये वह परमार्थतः क्या है? इन्हीं दो तत्त्वों को स्पष्ट करने के लिए लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देशादि उपायों का कथन किया। फिर शान्ति परिणति कैसे होती है, उसके अन्तः व बाह्य साधन क्या हैं, इन उपयोगी तत्त्वों के जानने के लिये निमित्त, उपादान, निमित्तनैमित्तिक भाव, परिणमनस्वातन्त्र्य आदि का वर्णन किया है। इस समस्त वर्णन के निष्कर्ष में यह बात निचोड़ की आयी कि अविकार अन्तःस्वभाव की ओर हमारा उपयोग हो, ऐसा प्रयत्न करें। इससे ही समस्त संकट मिटेंगे, शाश्वत आनन्द होगा, सदा शुद्ध पवित्र रहेंगे।

॥अध्यात्म सहस्री प्रवचन तृतीय भाग समाप्त॥